वन्दे-वीरम्

दिगम्बर ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जी

लिखित

कल्पित कथा समीक्षा

का

प्रत्युत्तर

दिगम्बर मत है अर्वाचीन,
नहीं सँशय जरा यारों।
हलाहल जहर है इसमें,
सदा बचते रहो प्यारों।

लेखक

चान्दमल जैन, मन्दसौर

प्रकाशक

ब्रह्मचारी द्वारकाप्रसाद जैन, देहली

☞

समीक्षा का उत्तर है सत्य का कलाम ।
गधे को डंडा और घोड़े को लगाम ॥१॥
भ्रम को हटाना हमारा है काम ।
दुर्जन को दँड और सज्जन को सलाम ॥२॥

--मुद्रक

पं० भगवत् दयाल

मोहन प्रेस,

देहली ।

दो शब्द

पाठको ! आज चारों ओर से संगठन-संगठन की आवाज बुलन्द हो रही है। आज देश का प्रत्येक जिम्मेदार व्यक्ति शान्ति और प्रेम के प्रचार मे तन-तोड़ और मन-जोड़ कर प्रयत्न कर रहा है। परन्तु महान् खेद है, कि जैन-जगत् मे पारस्परिक वितंडावाद का रोग विशेष रूप से जड़ पकड़ते जारहा है। जिस से समाज की शक्ति; सम्पत्ति, श्रम और समय का दुरुपयोग होरहा है। समाज मे धड़े-बन्दी का बाजार गर्म हो उठा है। पारस्परिक द्वेष, तू-तपड़ और फूट के घुनों ने समाज की जड़ को खोखला बना दिया है। इन घुनों ने समाज-रूपी विशालकाय वृक्ष के तन मे क्षय रोग-सा उत्पन्न कर दिया है। सम्राट् अकबर के समय की अर्थात् ईसा के सोलहवीं शताब्दी की पूरी सवा करोड जैन समाज की जन-संख्या आज इसी क्षय रोग के कारण घटते-घटते केवल बारह लाख पर आ टिकी है। यदि इस क्षय रोग के नाश की अब भी इसके जिम्मेदार एवं सदय-हृदय व्यक्तियों ने प्राण-प्राण से चेष्टा न की, तो निकट-भविष्य ही मे इस का नामोनशान दुनिया के पृष्ठ से मिट जावेगा। इस मे तनिक भी सन्देह नहीं। इस बढ़े हुए क्षय रोग के भयं-

कर परिणाम की बात को सुन कर किस हृदयवान् पुरुष का हृदय थर्रा न उठेगा ? हा हन्त ! एक ही सर्वज्ञ प्रभु के अनुयायी, एक ही परम कृपालु वीर प्रभु की दो सन्तानें, यूँ लड़ें-भिड़ें; कीड़े मकोड़ों की भाँति भाई-भाई के हृदय को चोट पहुँचाने सताने और उसके सर्वस्व को हड़प कर जाने की यूँ गँदली हरकतें करें, कितनी भारी लज्जा की बात है। अजी ! आप दो भाई परस्पर साथ-साथ न रह सकें। न सही ! अलग-अलग ही रहें। परन्तु जबानी जमा-खर्च के वितण्डावाद से इस फूट-डालिनी के विचारों से समाज की अतुल सम्पत्ति शक्ति आदि का तो असमय ही में अन्त आप कभी न करें ! आखिरकार हैं तो आप एक ही शरीर के दो हाथ, एक ही परम पिता महावीर की दो सन्तानें ! सम्भलिये अब भी समय है। सुबह का भूला-भटका यदि शाम को भी घर का मार्ग पकड़ ले तो उसे भूला-भटका

करके कोई भी अपने समाज का उत्थान कर सकते हैं ? कदापि नहीं। उनके ऐसे हीन और निकृष्ट विचार स्वयं ही चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं, कि अभी उन में अधूरापन है। एक पूरी कढ़ाई मे डालने पर तभी तक सूँ-सूँ करती रहती है, जब तक कि उस में कच्चापन रहता है। पक जाने पर, उसमे से कोई ध्वनी कभी नहीं निकलती। बस, यही बात हृदय के ओछेपन और बड़प्पन के सम्बन्ध में भी देखने और सुनने मे आती है और अनुभव की जाती है। कदाचित् ऐसा करके दिगंबर (?) सम्प्रदाय के ऐसे दिगंबर (?) लोग यह समझते रहे हों, कि "हम अपने सम्प्रदाय के प्रति प्रीति प्रकट कर रहे हैं। हमारे दिलों में हमारे संप्रदाय की उन्नति के प्रति एक लौ-सी लगी हुई है।" पर भाइयो ! ऐसी प्रीति का ढिंढोरा पीटने से कोई लाभ तो कभी होता ही नहीं है।

इन गँदले टैक्स्टों को प्रकाशित करके तो उलटे वे स्वयं ही उन्हीं के समाज और सम्प्रदाय मे हिकारत की नजरों से देखे जाने लगे हैं। न्यामतसिंहजी ने 'ढूँढ़क मत-तारकीय लीला' 'ढूँढ़क-मत-मीमाँसा' 'साधु-मुख-पत्ती बत्तीस सूत्रों के अनुसार भगवान् महावीर का जीवन', 'सत्य-परीक्षा'; 'जीवन सुधार'; 'भ्रम-निवारण,' 'सप्तव्यसन नई तर्ज' 'जैन मेला ऐलम,' आदि आदि भद्दी, गँदली और हृदय की हीनता दिखानेवाली कितनी ही पुस्तकों की रचना करके समाज में जहर उगलने की भरसक चेष्टा की है। तब भी शान्ति-प्रिय और सम्प के इच्छुक स्थानकवासी समाज ने आज तक मौन धारण करके निरुत्तर

कर परिमाण की बात को सुन कर किस हृदयवान् पुरुष का हृदय थर्रा न उठेगा? हा हन्त! एक ही सर्वज्ञ प्रभु के अनुयायी, एक ही परम कृपालु वीर प्रभु की दो सन्तानें, यूँ लड़ें-भिड़ें; कीड़े मकोड़ों की भाँति भाई-भाई के हृदय को चोट पहुँचाने सताने और उसके सर्वस्व को हड़प कर जाने की यूँ गँदली हरकतें करें; कितनी भारी लज्जा की बात है। अजी! आप दो भाई परस्पर साथ-साथ न रह सकें। न सही! अलग-अलग ही रहें। परन्तु ज़बानी जमा-खर्च के वितडावाद से इस फूट-डाकिनी के विचारों से समाज की अतुल सम्पत्ति शक्ति आदि का तो असमय ही में अन्त आप कभी न करें! आखिरकार है तो आप एक ही शरीर के दो हाथ, एक ही परम पिता महावीर की दो सन्तानें! समझिये अब भी समय है। सुबह का भूला-भटका यदि शाम को भी घर का मार्ग पकड़ ले तो उसे भूला-भटका नहीं कहते।

दुर्भाग्य से आज तक इस समाज के लाखों रुपये तीर्थ-क्षेत्र कहलानेवाले पावन स्थलों के झगड़ों मे स्वाहा हो चुके हैं। आये दिनों होते रहते है। जो भी कुछ शान्ति नाम को रह पाई है, उसे भी टीकरी (मेरठ) निवासी न्यामत सिंह जी, ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जी, और ब्र० मूलचन्द जी आदि जैसे कुछ दिगंबर? व्यक्तियों ने स्थानकवासी समाज के विरुद्ध अनर्गल, असभ्य और अंट-संट आक्षेपों से परिपूर्ण कुछ गँदले ट्रैक्ट निकाल कर तहस नहस करने की भर-सक चेष्टा की है। क्या ऐसा

करके कोई भी अपने समाज का उत्थान कर सकते हैं ? कदापि नहीं। उनके ऐसे हीन और निकृष्ट विचार स्वयं ही चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं, कि अभी उन मे अधूरापन है। एक पूरी कढ़ाई में डालने पर तभी तक सूँ-सूँ करती रहती है, जब तक कि उस मे कच्चापन रहता है। पक जाने पर, उसमे से कोई ध्वनी कभी नहीं निकलती। बस, यही बात हृदय के ओछेपन और बड़प्पन के सम्बन्ध में भी देखने और सुनने मे आती है और अनुभव की जाती है। कदाचित् ऐसा करके दिगंबर (?) सम्प्रदाय के ऐसे दिगंबर (?) लोग यह समझते रहे हों, कि "हम अपने सम्प्रदाय के प्रति प्रीति प्रकट कर रहे हैं। हमारे दिलों में हमारे संप्रदाय की उन्नति के प्रति एक लौ-सी लगी हुई है।" पर भाइयो! ऐसी प्रीति का ढिंढोरा पीटने से कोई लाभ तो कभी होता ही नहीं है।

उन गँदले टैक्टों को प्रकाशित करके तो उलटे वे स्वयं ही उन्हीं के समाज और सम्प्रदाय मे हिकारत की नजरों से देखे जाने लगे हैं। न्यामतसिहजी ने 'ढूँढ़क मत-तारकीय लीला' 'ढूँढ़क-मत-मीमाँसा' 'साधु-मुख-पत्ती बत्तीस सूत्रों के अनुसार भगवान् महावीर का जीवन', 'सत्य-परीक्षा'; 'जीवन सुधार'; 'भ्रम-निवारण,' 'सप्तव्यसन नई तर्ज' 'जैन मेला ऐलम,' आदि आदि भद्दी, गँदली और हृदय की हीनता दिखानेवाली कितनी ही पुस्तकों की रचना करके समाज में जहर उगलने की भरसक चेष्टा की है। तब भी शान्ति-प्रिय और सम्प के इच्छुक स्थानकवासी समाज ने आज तक मौन धारण करके निरुत्तर

रहना ही उचित समझा। परन्तु स्थानकवासी समाज के इस सद्भावना युक्त मौन-साधन का उन हलके दिलों के लोगों ने कोई दूसरा ही अर्थ निकाला, महान् दुरुपयोग किया। उन्होंने अपने ज़हर उगलने के कार्य को निरन्तर जारी रक्खा। अच्छा तो यही होता, कि हमारी इस मौन-साधना से वे लोग एक पाठ पढते और अपने जघन्य कार्य पर पश्चाताप प्रकट करके भविष्य मे भी ऐसे भ्रष्ट पथ के पथिक बनने से अपने आप को बाज़ रखते। परन्तु 'पियै रुधिर पय ना पियै, लगी पयोधर जोंक।' के सिद्धान्त के समर्थक ऐसा करते ही क्यों? यदि वे भी चुप्पी साध कर बैठ जाते तो उन के दिल और दिमाग की दिगंबरता का पता दुनिया को लगने भी कब बैठता! अस्तु। जो भी कुछ हुआ ठीक ही हुआ। फिर भी पश्चाताप और महान् पश्चाताप तो इस बात का है, कि दिगंबर समाज की मुख्य-मुख्य प्रतिनिधि सस्थाओं तक ने उन को ऐसे दुष्कृत्यों से तनिक भी नहीं रोका। यदि वे ज़िम्मेदार सस्थाएँ, न्यामतसिंह-जैसे ओछे दिल और गंदले दिमाग के लोगों को, उन के जघन्य कार्यों से ज़रा भी हटक देतीं, तो क्या मजाल था, कि वे फिर कभी ऐसे घासलेटी साहित्य का प्रकश न करवा पाते! परन्तु हमारे-समान उन्हों ने भी मौन-धारण करना ही उचित समझा। बस, इसी से तो, उन का यह भ्रष्ट हौंसिला उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इसी के फल-स्वरूप, आज से थोड़े ही दिन पहले, दिगंबर ब्र० सुन्दरलाल जी ने भी 'कल्पित-कथा-समीक्षा' नामक गँदला ट्रैक निकाल

कर, अपनी दुर्बुद्धि का परिचय दिया है। उस के द्वारा उन्हों ने हमारे परम सम्मान-भाजन एवं समर्थ गुरुओं पर, अनेकों निर्मूल एवं अनर्गल आक्षेप लगा कर, सूर्य पर धूल फेंकने के एक बालोचित साहस करने के मिस, अपने ही मुंह पर, धूल झोंकने का काम किया है। यही नहीं उन्होंने 'भगवान् महावीर का आदर्श जीवन' नामक लोक-प्रिय और विद्वद् जन द्वारा समादृत ग्रन्थ पर भी कीचड़ उछालने का दुस्साहस किया है। इस गदले और अश्लील ट्रैक को पढ़ कर कौन ऐसा हृदयवान् होगा, जिस की शान्ति को एक जबर्दस्त ठेस न लगती हो। तब तो एक स्वाभाविक-सी बात है, कि उस के भी दिल में, अपने धर्म-गुरुओं पर किए गये इन निर्मूल और बिना सिर-पैर के अनर्गल आक्षेपों का बदला लेने की भावना जागरूक हो, भडक उठती हो। हमारी यह भूल कर भी भावना नहीं थी, कि विशाल जैन-जगत् के विभिन्न साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की समीक्षा हम करें। उन के सम्बन्ध मे हम अपनी लेखनी को घिस कर समाज की रही-सही शक्ति को गायब करना आज तक नितान्त ही अना-वश्यक समझते रहे, समझते रहते हैं, और आगे भी समझते रहने की भरसक चेष्टा करते रहेंगे। यही कारण था, कि आज तक हम शान्त, और मौनी भी बने रहे। परन्तु प्रतिपक्षियों की अक्ल के अजीर्ण ने हमे—अति 'सर्वत्रवर्जयेत्'।—के सिद्धान्त पर ला उतारा। उनकी ऐसी कमीनी हरकतों की ज़्यादती को

अब और सह सकना, हमारे लिए असह्य हो उठा। उन के अनर्गल और अंट-संट आक्षेपों का उत्तर न देना हमने अपनी कादरता समझी। अस्तु।

उन उपर्युक्त गँदली पुस्तकों का भंडाफोड़ करना हमने भी अपना कर्तव्य और धर्म समझा। सब से पहले तो हमारा अहिंसा धर्म हम से यही तकाज़ा करता है, कि अपने धर्म और धर्म-गुरुओं पर आततायियों के द्वारा किये गये आक्रमणों का साम्हना, अपनी सम्पूर्ण शक्ति से किया जाय। जिससे विरोधियों के दिल, दिमाग और दाँत खट्टे हो-हो जाँय। दूसरी बात ब्रह्मचारी (भ्रमचारी) जी ने अपनी लेखनी के द्वारा जनता मे जिस नाशक भ्रम को फैलाने का यत्न किया है, उस भ्रम का निवारण कर देना भी हम ने अत्यावश्यक और उपयुक्त समझा। जिससे जनता यह भली भाँति समझले, कि वास्तविक सत्य क्या है और कहाँ है? इच्छा न होते हुए भी बस, इन्हीं उपर्युक्त दोनों कारणों से प्रेरित हो कर हमने उस 'कल्पित कथा समीक्षा' का उत्तर इस पुस्तक के द्वारा विचारशील एव विवेकवान् विद्वानों के कर कमलों मे भेंट करने का साहस और निश्चय किया है।

साथ ही हम इसके द्वारा ब्रह्मचारी सुन्दरलालजी को भी सावधान किये देते हैं, कि आपने जैसी भी पुस्तक लिखी है, उसी के फल—स्वरूप यह छोटी—सी भेंट प्रसादी के रूप में हम भी आप को भेंट कर रहे हैं। हमें पूर्ण आशा और ध्रुव विश्वास है, कि इस प्रसादी का पान करते ही आपके हृदय देश की भ्रम-

मूलक सम्पूर्ण अधि व्याधियों का एकान्त अन्त अवश्य ही हो जावेगा। कदाचित तब आप अपनी कमीनी हरकतों पर पश्चाताप भी प्रकट करें। और भविष्य मे सदा के लिए सत्मार्ग अनुसरण करलें। यदि इस भेंट से भी आपका भव-रोग न भागा और फिर भी अपने रोग के बढ़े हुए कष्ट के कारण कुछ ऊलजलूल आप बकते ही रहे, तो निश्चय रखिये, कि इससे भी अधिक असरकारी किसी ऐसी बटी की आयोजना आपके लिए कर दी जावेगी, कि जो बात-की-बात में आपके पेट की सारी गड़बडी को मिटा दे। तब पेट की गड़बड़ी के मिटते ही अक्ल का अजीर्ण भी अपने आप दूर हो जावेगा। परन्तु याद रखिये उस असरकारक तीव्र बटी से जो भीं कलहाग्नि समाज मे भड़क उठेगी उसकी सारी जिम्मेदारी आप ही के सिर-कन्धो होगी।

इस पुस्तक मे जो भी कुछ लिखा गया है, वह सोलह-आना न्याय-संगत और प्रामाणिक है। हमारे इस कथन की सत्यता के लिए शास्त्र और समाचार-पत्रों के हवाले वहाँ यत्र-तत्र मौजूद हैं। इसके विपरीत ब्रह्मचारीजी का हृदय तो भ्रम से भरा-पूरा है ही। और उसी की छाया उनकी 'कल्पित-कथा-समीक्षा मे भी सर्वत्र दिख पड़ती है। उसमे भी स्थना स्थन पर भ्रम-पूर्ण बातों को लिख कर जनता मे भी भ्रम फैलाने का पर्याप्त परिश्रम आपने किया है। उनके इसी जन्म-जात गुण के कारण हमने भी अपनी इस पुस्तक मे यत्र-तत्र 'भ्रमचारी जी' ही के नाम से सम्बोधित किया है। आशा है, अपने कामों तथा गुणों के

अनुकूल ही अपने नाम को पाकर वे अवश्य ही प्रसन्न होंगे। और, हमारे कथन का विषयान्तर न करते हुए, इसे प्रासंगिक ही समझेंगे।

हम पहले ही कह आये हैं, कि यह उत्तर किसी को कष्ट पहुँचाने के लिए नहीं, वरन् जनता के हृदयों का भ्रम-निवारण करने ही के लिए लिखा गया है। फिर भी जैसा हमारा अनुभव और सम्भावना है, दिगंबर-जैन-समाज के हृदय में, इसके कारण कुछ कष्ट का अनुभव हो, तो वह इसका मूल कारण, ब्रह्मचारी सुन्दरलालजी ही को समझें। क्योंकि यह उन्हीं की कमीनी हरकतों का नतीजा है। वे ही इस झगड़े का सूत्र-पात्र करनेवाले हैं। अत. 'विषस्यविषौषधम्' के न्याय से जैसी भी उनकी करणी है, वैसी ही उनकी भरणी है। इस ग्रन्थ के लेखक का, इसमें रत्ती-भर भी कोई दोष नहीं।

—लेखक

ओ३म्

दिगम्बर ब्र० सुन्दरलाल जी लिखित

"कल्पित-कथा-समीक्षा" का

प्र-त्यु-त्त-र

—:⊱:⁂:⊰:—

मंगलमय भगवान् को; वन्दूं शीश नमाय ।
सम्यक्-ज्ञान चरित्र युत; सत गुरु लागूं पाँय ॥

पाठको ! सब से प्रथम मैं उस परम पवित्र परमात्मा को नमस्कार करके, सम्यक्-ज्ञान, दर्शन और चरित्र-सहित प्रमाणोपेत वस्त्र के धारण करने वाले गुरुओं को वन्दना करता हूं । और तब दिगम्बर ब्रमचारी सुन्दरलाल जी द्वारा, भंग की तरंग मे, द्वेष बुद्धि से लिखी गई, अनर्गल, असभ्य, अंटसंट और मिथ्या, आक्षपों से परिपूर्ण "कल्पित-कथा-समीक्षा" का उत्तर मैं लिखता हूं ।

वीर भगवान् के दिव्य गुणों पर किसी जाति विशेष, या समाज विशेष, या सम्प्रदाय विशेष, या दिगम्बरों ही का कोई

ठेका (Controct) नहीं है। फिर भी भ्रमचारी जी ऐसा क्यों लिखते है, कि "दिगम्बरों के माने हुए गुणों से ही श्वेताम्बर स्थानकवासी, अर्हन्त भगवान् को आप्त मानते हैं।" ऐसा कहते समय, कदाचित् भ्रमचारी जी की बुद्धि को पाला मार गया होगा, या वह अपना स्थान छोड़ कर इधर-उधर, घास-पात चरने के लिए, कहीं चली गई होगी। यदि ऐसा न हुआ होता, और वह ठिकाने पर ही होती, तो उन के अड़ियल और संकुचित दिमाग मे यह बात अवश्य ही आगई होती, कि परमात्मा के दिव्य गुण किसी व्यक्ति, या समाज, या देश. या राष्ट्र विशेष ही के हाथ कभी बिके हुए नहीं होते। उन्हीं को, उनका कोई अधिकार नामा (Monopoly) नहीं मिला होता।

" एक स्थानकवासी कहता है, कि भगवान् ने ऐसा कहा, और दूसरे कहते हैं, कि ऐसा नहीं कहा, वैसा कहा। " भ्रमचारी का ऐसा लिखना, बिलकुल बिना सिर-पैर का है। प्रमाण का तो उस मे कोई पता तक नहीं। अच्छा होता, भ्रमचारी जी, जरा इस बात का कोई प्रमाण पेश करके, अपनी सच्चाई की डुगडुगी लोगों के सामने बजाते। भ्रमचारी जी यह तो स्वयं भी जानते थे, कि बिना प्रमाण की बात पर लोग कभी विश्वास न करेंगे। परन्तु इस बात का विचार वे करने ही क्यों लगते ? क्योंकि विचारशीलता को तो वे पहले ही से ताक मे रख आये हैं। उन्होंने तो, "कहीं की ईंट कहीं का रोडा, और भानुमती ने कुनबा जोडा।" के कथनानुसार अपनी पुस्तक के शरीर को सजाकर

दूसरों की झूठी निन्दा-मात्र करना ही सीखा है। बस, इसी से तो बिना प्रमाण के ही उन्होंने यह लिख मारा है। कदाचित भ्रमचारी जी को कोई झूठा स्वप्न आगया होगा, या कोई काला देव स्वयं आ कर, उनकी गपाष्टक ऑफिस मे इस बात को नोट कर गया होगा। इसी से तो ऐसा अनर्गल प्रलाप आप कर बैठे हैं।

अच्छा भ्रमचारी जी! आपके भ्रम का हम ही निराकरण किये देते हैं, कि—"भगवान् महावीर के सम्बन्ध में, तथा मोक्ष मार्ग के बारे में, कोई भी स्थानकवासी साधु, एक-दूसरे के विरुद्ध, कथन तो कभी नहीं करते।"

फिर, भ्रमचारी जी! "भगवान् महावीर का अदर्श जीवन" इसमे तो कहीं भी, और किसी भी अरुचि-पूर्ण बात का उल्लेख नहीं किया गया है। पक्षपात-हीन, एक साधारण-से-साधारण और विद्वान्-से-विद्वान, कोई भी पुरुष, उसे देख-भालकर, कहीं भी अरुचि का उल्लेख उसमे नहीं पायेगा। ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो ग्रन्थ लिखने को बैठेगा; और उसमें अरुचिकर बातों को लिख बैठेगा। अरुचि-पूर्वक लिखने का, जो जिक्र समीक्षा मे भ्रमचारी जी ने किया है, वह उनकी बुद्धि की सरासर अजीर्णता है। सच तो यह है, कि "कल्पित-कथा-समीक्षा" को लिखकर ही, भ्रमचारी जी ने अपने मुख पर कलंक की अमिट कालिमा पोत ली है।'

अच्छा तो यही होता, कि भ्रमचारी जी उस अरुचि-पूर्ण

उल्लेख का कोई उद्धरण वहाँ दे देते। यों करने से, उनकी क़लम तो कोई घिसती नहीं थी। परन्तु हाँ, सचाई उससे ज़रूर टपक पड़ती। वाह भ्रमचारी जी! जहाँ समुद्र बता रहे हैं, वहाँ तो पानी की एक बूँद तक का पता नहीं।

"आदर्श जीवन" से, महावीर के दो पिता होने के भाव आपने झलकाये हैं। पर सच तो यह है जो ख़ुद अधूरा होता है, वही तो ऐसी बातें कहता और देखता है। इसीलिये तो किसी कवि ने क्या ही ठीक कहा है—

"पूरा तो झलके नहीं, झलके सो अद्धा।
घोड़ा तो भौंके नहीं, भौंके सो गद्धा॥"

"आदर्श जीवन" में तो कहीं भी इस बात का कोई ज़िक्र तक नहीं, कि महावीर स्वामी दो पिताओं के पुत्र थे। फिर आप अपनी मन-गढ़न्त बात के द्वारा, क्यों दूसरे की निन्दा करते हैं? अजी! क्यों पर-निन्दा करके, घोर पाप की पोटली अपने सिर कन्धों लाद रहे हैं!

भ्रमचारी जी! दो पिताओं का पुत्र होना, यह तो प्रकृति के विरुद्ध की बात है। कोई भी स्थानकवासी साधु यह कभी नहीं कहता, कि महावीर के दो पिता थे, या हैं। हाँ, वे महावीर का गर्भापहरण हुआ तो अवश्य ही मानते हैं। परन्तु इस गर्भापहरण के सम्बन्ध में, ऐसी भद्दी-भद्दी बातें लिख देना, कि महावीर दो पिता के पुत्र थे, नितान्त ही भ्रम-मूलक है। भ्रमचारी जी! यह तो आपकी बुद्धि का नमूना है। वीर प्रभु को दो

पिता के पुत्र बता कर, भगवान् महावीर की महान् अशातना और बड़ी भारी तौहीन की है। उनके गर्भापहरण की बात के कारण तो, वे जारज और वर्णसंकर नहीं बन सकते, परन्तु हाँ, भगवान् के सम्बन्ध मे यह बात कह कर, आपने एक बात अपने स्वयं के घर की, बड़े ही पते की बता दी। आपके दिगम्बर शास्त्रानुसार जितने भी तीर्थंकर हुए है, वे सब-के-सब वर्णसंकर ठहर जाते है। क्योंकि, आपके दिगम्बर मत के "षड़-पाहुड़" मे एक स्थल पर लिखा है, कि—

"तित्थयरा, तप्पियरा; हलहर चक्की वासुदेवाहि।
पडिवासु भोग भूमिय; आहारो णत्थि णीहारो॥"

अर्थात् क्या तो तीर्थंकर, तीर्थंकरों के पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि आहार तो करते हैं, परन्तु उनके शरीरों मे मल-मूत्र त्याग, आदि इन्द्रियों का बहना नहीं होता।

भ्रमचारी जी! यह तो आपके सम्प्रदाय की बड़ी ही अनोखी और अटपटी बात है, कि तीर्थंकरों के पिता आहारादि तो करते हैं, परन्तु उनके मल-मूत्रादि इन्द्रियों का बहना नहीं होता। भ्रमचारी जी! जरा भागिये नहीं, बताते जाइये, कि जब तीर्थंकरों के पिताओं की इन्द्रियों से मल-मूत्र और वीर्यादि नहीं निकलते, तो फिर बिना पिता के वीर्य के, तीर्थंकरों की उत्पत्ति ही कैसे हो जाती है? यदि ऐसा हो जाता है, तो क्या यह प्रकृति-विरुद्ध बात नहीं है? भ्रमचारी जी! आज तक तो जगत

में कभी ऐसा हुआ नहीं। माताओं के रज के साथ विना वीर्य के मिले, सन्तानोत्पत्ति होती ही कब है! परन्तु यदि हम आप ही की बात ऊपर के कथनानुसार सच मान लें, तो इससे तो यही सिद्ध हुआ, कि तीर्थंकरों की माताएँ, पर-पुरुष-गामिनी रही होंगी; और अन्य पुरुषों के वीर्य ही से तीर्थंकरों को जन्म उन्होंने दिया होगा। तब आप ही के इस मत से क्या यह सिद्ध नहीं हुआ, कि दिगम्बर मत में तीर्थंकर, जारज और वर्ण-संकर होते हैं।

"सत्य-परीक्षा" के पृष्ट ३० पर, तीर्थंकरों के पिताओं के शरीरों से वीर्य का निकलना, न्यामतसिंह जी खुले आम स्वीकार कर रहे हैं। यही नहीं, उन्होंने उस वीर्य को उत्तम धातु कह कर के भी माना है। धन्य, न्यामतसिंह जी! क्या जड जगत् की सारी जड़ता, आप ही की बुद्धि के पल्ले में पडी है, जो तीर्थंकरों के पिताओं के मूत्र तो नहीं, वरन् उनकी जननेंद्रियों से वीर्य ही निकलना मानते हैं। वीर्य के उन मूल्यवान कतरों को, जिन में से प्रत्येक क़तरा, खून की साठ-साठ बूंदों के समान शक्तिमान होता है, न्यामतसिंह जी जैसे विद्वान (?) तीर्थंकरों के पिताओं के शरीरों से पेशाब के मिस वीर्य निकलना बताते हैं। परन्तु है यह बात प्रकृति के बिलकुल ही विपरीत है। प्राणि-शास्त्र के आज के निष्पक्ष और प्रवीण पंडित भी इस बात को मानने के लिये उतारू नहीं हैं, फिर न्यामतसिंह जी ने तीर्थंकरों के बाप को यह नियामत कैसे बख्श दी, नहीं जान पड़ता। यदि यह

बात यहीं छोड़ दीजाय, तो आगे चल कर, न्यामतसिह जी ! ज़रा यह तो बतलाइये, कि आप लौकिक या पारलौकिक, किस पहलू से वीर्य को उत्तम धातु बतलाते हैं? यदि पारलौकिक दृष्टि से भी आप उसे एक उत्तम धातु मानते हैं, तब तो शायद, कल वीर्य से सने हुए वस्त्रों ही से आप धार्मिक कार्य भी करने लग पड़ेंगे ! वाह रे उत्तमता और पवित्रता की दुम ! न्यामतसिंह जी ! कहिये, यह तो सरासरी आप की निरक्षरता ही का नमूना हुआ न ?

श्वेताम्बर स्थानकवासी तो यह कभी नहीं मानते। और न उनके किसी ग्रन्थ ही मे यह लिखा है, कि तीर्थंकरों के पिताओं की जननेन्द्रिय से मूत्र, वीर्य नहीं निकलते। प्रकृति से भी यह बात स्वतः सिद्ध है, कि जो प्राणी भोजन करेगा, और पानी पीवेगा, वह टट्टी और पेशाब भी अवश्य ही करेगा। यह बात तो एक मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी कभी नहीं कहेगा, कि वह खाता-पीता तो है, पर हॅगता-मूतता वह कभी नहीं। यह कल्पित कल्पना तो दिगम्बर मत और उनके आदर्श ग्रन्थों ही की है, जहॉ तीर्थंकरों के पिताओं को आहार करना तो निधड़क-रूप से माना जाता है, परन्तु उनके द्वारा मल-मूत्र के त्याग का होना वे नहीं मानते। धन्य ! धन्य !! भ्रमचारी जी ! आपकी भ्रम-भरी बोंथरी (Blunt) बुद्धि को ! जिसके साहरे, अपने दिगम्बर मत के तीर्थंकरो को जारज और वर्ण-संकर तथा उनकी सती-साध्वी माताओं को व्यभिचारिणी होना, करार आप दे रहे हैं। भ्रमचारी जी ! यह बात आपके दिगम्बर मत ही को मुबारिक

हो। श्वेताम्बरों की यह हिम्मत नहीं, कि वे अपने लोकपावन और वीतरागी महा प्रभुओं का, जगत् मे यूँ उपहास करावें।

श्वेताम्बरीय सूत्रों में, इस गर्भापहरण को एक 'अछेरा' मात्र माना है। अछेरा एक ऐसी असम्भव घटना को कहते हैं, जो असख्यात अवसर्पिणियों मे, हुंडा नामक सर्पिणी में, यदाकदा हुआ करती है। शास्त्र-सम्मत ऐसी घटनाओं को न मानना, तथा उनके सम्बन्ध में उटपटाँग तर्क-वितर्क करते हुए अश्रद्धा प्रकट करना मानो अपने धर्म-शास्त्रों की तौहीन करना, और अपनी मानवता का मनहूसपन दिखाना है।

दिगम्बर मत के "सिद्धान्त-प्रदीप" नामक ग्रन्थ में 'अछेरे' का जो प्रमाण है, वह नीचे के अनुसार है'—

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यसंख्या तेषु गतेष्वपी ।
हुंडावसर्पिणी काल' इहायातिन चान्यथा ॥७३॥
उपसर्गा जिनेन्द्राणां मान भंगाश्च चक्रिणाम ।
कुदेव मठ भूत्याद्याः कुशास्त्राणि अनेकश' ॥७६॥

—[सिद्धान्त—प्रदीप]

इस प्रकार दिगम्बर मत में भी अछेरे माने अवश्य गये हैं। किन्तु उन पर तर्क-वितर्क और वाद-विवाद करने के सम्बन्ध में, काफी उदासीनता का आश्रय लिया गया है।

दिगम्बर मत मे यह माना गया है, कि—

(१) चक्रवर्ती किसी से नहीं हारते।

(२) तीर्थंकरों की वाणी, बिना गणधरों के नहीं खिरती।

और (३) तीर्थंकरों को उपसर्ग नहीं होता।

दिगम्बरों की इस मानता पर, हम उन्हें पूछते हैं, कि—

(१) जब चक्रवर्ती, कभी किसी से नहीं हारते, यदि उनके लिए हारना असम्भव ही है, तो फिर भरतजी को आप लोग चक्रवर्ती मानते हैं या नहीं ? यदि हाँ, तो वे बाहुबलि जी से हारे या नहीं? कहिये, भ्रमचारी जी ! हुआ न भंडाफोड़ ?

(२) आप के मत तथा मानता के अनुसार जब तीर्थंकरों के वचन-योग होते हुए भी उनकी वाणी, बिना गणधरों के नहीं खिरती; तो फिर भगवान् ऋषभदेव जी की वाणी, बिना गणधर के कैसे और क्यों खिर गई ? और यदि उन की वाणी खिर गई तो बतावें कि आप अपने भगवान् ऋषभदेव जी को, असली तीर्थंकर मानेंगे या नक़ली ?

(३) जब सभी तीर्थंकरों को उनकी अपनी छद्मावस्था में, आठों कर्मों की सत्ता होते हुए भी उनपर कभी कोई उपसर्ग नहीं होता है, तो फिर पार्श्वनाथ स्वामी और भगवान् महावीर के ऊपर जो उपसर्गों का आक्रमण हुआ, उनके सम्बन्ध में आप की क्या धारणा है? भ्रमचारी जी ! चौकडी लगा कर भागिये नहीं। किन्तु फरमाइये, कि अब आप ही के मत से पार्श्वनाथ जी और भगवान् महावीर, ये दोनों असली तीर्थंकर थे या नकली ?

क्या दिगम्बर भ्रमचारी सुन्दरलालजी के पास, उपरोक्त तीनों प्रश्नों का कोई उचित और शास्त्र-सम्मत समाधान-कारक उत्तर है ? क्या ऋषभदेव जी, पार्श्वनाथ जी और भगवान्

महावीर के तीर्थंकरत्व में उन्हें कोई सन्देह है ? या उन के तीर्थंकरत्व के वे विरुद्ध हैं ?

जहाँतक हमारे शास्त्र-मन्थन और अनुभव-ज्ञान का ख़याल है, उपरोक्त प्रश्नों का यही उत्तर देंगे कि, "ये तो अछेरे हुए हैं।"

भ्रमचारी जी ! यदि इस से भी सन्तोष आप को नहीं, तो लीजिये एक दूसरा प्रमाण अछेरे का और पेश किया जाता है। सुनिये !

श्रीयुत पंडित गोपालदास जी बरैया, अधिष्ठाता जैन-सिद्धान्त विद्यालय, मुरैना, "जैन-जागरफी" के प्रथम भाग के पृष्ठ १६ पर लिखते हैं, कि—

"वर्तमान मे कहीं-कहीं एक सौ बीस वर्ष से भी अधिक आयु सुनने मे आती है, सो हुंडावसर्पिणी के निमित्त से है। अनेकों कल्प काल वीतने पर, एक हुंडा काल आता है। इस हुंडा काल मे कई बातें विशेष होती हैं। जैसे चक्रवर्ती का अपमान तीर्थंकर के पुत्री का जन्म, और शलाका पुरुषों की संख्या मे हानि।"

क्या इस प्रमाण से भी यही बात सिद्ध नहीं होती, कि दिगम्बर मत में भी अछेरे होते हैं। और वे यथास्थान माने भी गये हैं। जिस प्रकार ऊपर की बातें कभी हो नहीं सकतीं, परन्तु कल्प-काल में वे होती हैं। ठीक इसी प्रकार इस गर्भापहरण घटना को भी समझ लेना चाहिये। भ्रमचारी जी ! अ... भी बात को सच मान लेना और दूसरों की वैसी ... मखौल उड़ाना, कहिये, धृष्टता नहीं तो और क्या

देखिये! गर्भापहरण की घटना को इतिहास भी सिद्ध करते हैं। भ्रमचारी जी! इतिहास और उसके सम्बन्ध के शिला-लेख किसी सम्प्रदाय विशेष के दादा-मामा तो कोई होते नहीं, जो उसका पक्षपात वे करने लगते। उनका तो एक-मात्र यही काम होता है, कि वास्तविक सत्य को जनता के सामने ज्यों का त्यों रख देना। भ्रमचारी जी! लीजिये, आप ही के मतानुयायी विद्वानों के मुख से सुनिये। दिगम्बर मत के प्रसिद्ध विद्वान बाबू कामताप्रसादजी भी इन्हीं शिलालेखों के आधार पर मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त को "जैन मतावलम्वी" सिद्ध कर रहे हैं। और जैन धर्म की प्राचीनता दिखलाते हैं। अस्तु।

अब गर्भ के विषय मे देखिये। जैन धर्म के सम्बन्ध मे आज तक जितने भी शिलालेख पुरातत्त्व-विभाग को मिले हैं, उन मे मथुरा के कंकाली टीले से पाये हुए, शिला-लेख ही सब से अधिक प्राचीन माने गये है। इतिहासकारों के मत से ये शिलालेख, ईस्वी सन् से भी एक सौ वर्षों से अधिक पुराने माने गये हैं। जिन्हें आज दो हजार वर्षों से भी कुछ ऊपर का समय हो गया है। उन्हीं शिलालेखों मे तत्कालीन इतिहास प्रसिद्ध सम्राट् कनिष्क और हुविष्क आदि के शासन-काल का भी उल्लेख पाया जाता है। उन्हीं शिलालेखों में से एक ऐसा भी है, जिस पर भगवान् महावीर का चरित्र, चित्र-रूप मे अंकित किया गया है। उसमे एक चित्र ऐसा भी पाया जाता है, कि हरिनैगमेषी नामक एक देव, भगवान् महावीर के गर्भ को, कर-संपुट में

लिये, त्रिशला देवी के यहाँ, संहरण करने के लिये जा रहा है।

इसी उपर्युक्त चित्र के सम्बन्ध मे, इतिहास के प्रसिद्ध एवं मर्मज्ञ विद्वान्, कलकत्ता-निवासी, श्रीयुत बाबू पूर्णचन्द जी नाहर यूँ लिखते हैं—

"भगवान् महावीर अपनी क्षत्रियानी माता, त्रिशला देवी के गर्भ से जन्म-ग्रहण करने के पूर्व, देवानन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ मे अवतीर्ण हुए थे। तदनन्तर इन्द्र की आज्ञा से हरिनैगमेषी देव ने, देवानन्दा के गर्भ से भगवान् महावीर को उठा कर त्रिशला देवी के गर्भ मे स्थापित किया था। श्वेताम्बर लोगों के प्रसिद्ध कल्पसूत्र मे इस घटना का विस्तार-पूर्वक वर्णन पाया जाता है। कंकाली टीले से भी इसी दृश्य की एक बडी ही भास्कर शिला प्राप्त हुई है। यदि कोई पाठक चाहें, तो वे विंसेंट स्मिथ कृत—"जैन स्तूप एण्ड अदर ऍण्टिक्विटीज़ आफ़ मथुरा" (Jain-Stupas and other antiquities of Mathura) नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २५ वें पर इस बात का प्रमाण देख सकते हैं।

जो विद्वान् लिपि-तत्व के पारदर्शी विद्वान है, उन्होंने भी इस बात को प्रमाणित किया है, कि ऊपर जिस शिला-लेख का वर्णन आया है, वह ईस्वी सन से एक सौ वर्षों से भी कुछ और पहले का है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी भी ग्रन्थ तथा उन लोगों द्वारा रचित जितनी भी महावीर स्वामी की जीवनियाँ मिल सकती हैं, उनमे इस प्रकार की किसी भी का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वे लोग इस गर्भाप

आख्यायिका पर विश्वास भी नहीं करते। इससे तो यही सिद्ध होता है, कि दिगम्बर सम्प्रदाय के आर्ष ग्रन्थों की अपेक्षा श्वेताम्बरों के आर्ष ग्रन्थ अधिक प्राचीन हैं। और उनके विचार तथा कल्पनाएं सभी एकदम पुराने हैं।

विचारवान पाठक इन सारी ऊपर वाली बातों का ऊहापोह करके, सहज ही मे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि दिगम्बरों द्वारा सूत्रों का व्यर्थ ही मखौल उड़ाना कहाँ तक युक्तियुक्त और न्याय-संगत है। वास्तविक बात तो यह है, कि श्वेताम्बर धर्म और इसकी मान्यताएँ, दिगम्बर धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। भगवान महावीर के जन्म से लगाकर आज तक श्वेताम्बर धर्म अपनी मंथर गति से चला हुआ आ रहा है। परन्तु जब से आपसी अनबन के कारण दिगम्बर लोग श्वेताम्बर धर्म मे से अलग हो गये, और दिगम्बर नाम से अपना एक अलग फिरका कायम कर लिया, उसी दिन से इन लोगों ने प्राचीन सूत्र ग्रन्थों का मानना भी छोड़ दिया और गर्भापहरण जैसी पकड़ मे आने वाली कथाओ की घटनाओं से भी इंकारित वे हो गये। विवेकशील पाठको! यह तो अनुभव-सिद्ध और इतिहास प्रसिद्ध सत्य है, कि जो लोग पीछे हुआ करते हैं, वे ही लोग अक्सर करके कतर-ब्यौंत किया करते हैं। अगर श्वेताम्बर लोग दिगम्बरों के पीछे हुए होते तो वे यह एक नई और सबको असम्भव सी जँचने वाली कथा मन से गढ कर लिखते ही क्यों? उन्हें इसकी अडी ही क्या थी? परन्तु अपनी प्राचीनता के

कारण और इतिहास के आधार पर ही ये लोग इसे ज्यों-कीत्यों माने हुए हैं। मथुरा के शिला-लेख हमारे इस कथन की सचाई के प्रसिद्ध प्रमाण हैं। परन्तु भ्रमचारी सुन्दरलालजी जैसे को, इतने पर भी, इस जाज्वल्यमान सूर्य के लोक-व्यापी और ससार-प्रसिद्ध प्रकाश मे भी, वास्तविक बात का, उसके अपने असली रूप मे दर्शन नहीं होता है, तो क्या, इससे उस ज्योतिप-मान सूर्य की नास्ति सिद्ध हो सकती है? नहीं, कदापि नहीं। भ्रमचारी जी! श्रद्धा और विश्वास-पूर्वक नित्य-प्रति शास्त्र-मथन-रूपी अंजन का सेवन करते रहिए, किसी सद्गुरु-रूपी आँख के विशेषज्ञ (*Eye specialist*) की शरण मे जाकर, शीघ्र ही अपने हीये की आँखों का ऑपरेशन करवा डालिये।

भ्रमचारी जी! अभी-अभी न्यामतसिह जी ने "सत्य परीक्षा" नामक अपनी एक पुस्तक मे, अनेकों अंट-सट और बिना सिर-पैर की अनर्गल वातो का उल्लेख करके, व्यर्थ मे कागजों को तो काला किया ही है, परन्तु उससे उन्होंने अपने हृदय-प्रदेश की उच्छृंखलता, और जड़ बुद्धि का भी यथेष्ट प्रमाण संसार को दे दिया है। क्योंकि, जितनी भी वातें उन्होंने उसमे लिखी हैं, आदि-से-इति तक सब-का-सब थोथी, अनर्गल, और प्रमाण-शून्य है। स्थानकवासियों के माननीय बत्तीस सूत्रो मे इस वात का, जरा भी कहीं, कोई जिक्र तक नहीं, कि "ब्राह्मण-कुल नीच कुल है, अत वहाँ से सहरण किया जाय।" यदि

नीच कुल होता, तो फिर ग्यारह गणधर, ये

क्यों होते ? ब्राह्मणों को तब दीक्षा दी ही क्यों जाती ? इस पर यह प्रश्न उठ सकता है, कि "यदि ब्राह्मण-कुल नीच नहीं ठहरता, तो फिर महावीर को उस कुल की एक देवी के गर्भ में से संहरण ही क्यों किया गया है ?" भ्रमचारी जी ! इस सीधी-सी बात का उत्तर भी, उन न्यामतसिंह जी के खोपडे मे न आया। इसी से उनकी पथराई हुई जड बुद्धि का अनुमान जगत् को हो सकता है, कि वे यह बात तक न जान सके, कि जितने भी तीर्थंकर हुए और होते हैं, वे सब-के-सब, क्षत्रिय कुल ही मे हुए और होते हैं। परन्तु भगवान महावीर, ब्राह्मण-कुल मे आये थे। बस, इसी से, इनका संहरण वहाँ से किया गया था। इसी प्रकार की घटना को शास्त्रकारों ने 'अछेरा' कहा है। यह तो, बत्तीस सूत्रों मे से कहीं भी कोई उल्लेख नहीं, कि "भगवान महावीर ने नीच गोत्र कर्म बाँधा था। और, इसलिये वे ब्राह्मण-कुल मे आये थे।" अवधि-ज्ञानवाला जब इस सम्बन्ध का पता लगाता है, तो उसे इस बात पता लग जाता है। अतः बयाँसीवें दिन जब इन्द्र के उपयोग लगाने पर, उसे पता लगा, तब हरिनैगमेषी द्वारा, गर्भ की संहरण-क्रिया करवा ली गई।

आगे चलकर न्यामतसिंह जी ने लिखा, कि "बयाँसी दिन के बाद, महावीर, क्षत्रियाणी के खून से पला।" यह लिखना भी उनकी पक्षपात दृष्टि और अज्ञान बुद्धि का पूरा परिचय है। क्योंकि गर्भस्थ बालक रज और वीर्य का आहार कर, शरीर-पिंड बँध जाने के बाद खून का आहार तो कभी नहीं

करता। वह तो फिर माता के द्वारा किये हुए भोजन के रस ही का आहार करता रहता है। इसी न्याय से त्रिशलादेवी जो क्षत्रियानी थी, उसके द्वारा किये हुए भोजन के रस का आहार ही महावीर ने भी किया था, उसके खून का नहीं।

फिर आज के युग मे इस बात को भी प्रत्यक्ष देखते और सुनते है, कि कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनके शरीर मे रक्त की कमी हो जाती है। फलत. डाक्टर लोग दूसरों का खून उनके शरीर में प्रवेश करते-करवाते हैं। तो क्या, ऐसा करने से वह मनुष्य दो वर्ण का या वर्ण-संकर या जारज हो जाता है? यदि नहीं; तो फिर क्या न्यामतसिंह जी के हीये की अक्ल खिसक गई थी, जो उनने ऐसी थोथी और व्यर्थ की भ्रम-भरी बातों को जगत् के सामने रखकर, अपने आपकी हँसी करवाई।

आग, यूँ कभी साधारण-रूप से पानी के रूप में बदल नहीं सकती। किंतु वही आग दैविक शक्ति के प्रभाव से पानी के रूप मे परि-वर्तित हो जाती है। जैसे सति-शिरोमणि सीता जी के लिये अग्निकुण्ड शीतल सरोवर के रूप मे परिवर्तित हो गया था। फिर, गर्भापहरण-जैसे मामूली और छोटे-से कार्य तो दैविक-शक्ति के आगे है ही कौनसी चीज? अस्तु। भगवान महावीर के गर्भापहरण की घटना को भी, कर्म-परिवर्तन की घटना कहने का दुस्साहस करना, नितान्त भ्रान्त अनुचित और अन्याय भावना-मात्र है। यह तो न्यामतसिंह जी की केवल हट

पन की खींचातानी, और वैज्ञानिक जगत् के व्यवहारों से पराङ्-मुख होने का परिचय-मात्र है। अन्यथा, भगवान के गर्भापहरण की घटना, एक अछेरा है; एक दैविक घटना है। आज भी यहाँ ऐसी-ऐसी अनेकों असम्भव और अनहोने वाली घटनाएँ घटती रहती हैं, जिन्हें देख-देख कर, इस बीसवीं शताब्दी का उन्नत और आकाश-पाताल के कुलावों को एक कर देने वाला विज्ञान-मय जगत् दाँतों तले अँगुली लगाकर भौंचक्का-सा बना रह जाता है।

"भगवान महावीर के आदर्श जीवन" मे झूँठन-कूठन खाने के लिये कहीं भी नहीं लिखा है। सुन्दरलालजी दिगम्बर ही तो ठहरे। ऐसे दिगम्बर के पास और धरा ही क्या होता है? जो वस्तु जिसके पास होती हैं, वही तो वह देता और दे सकता है। नीतिकारों ने क्या ही भला कह दिया है—

ददतु-ददतु गालिर्गालिवन्तो भवन्तः
वयमिह तदभावाद् गालिदाने प्यशक्तः ॥
जगति विदितमेतद् दीयते विद्यते तत्।
नहि शशक-विषाणं कोपि-कस्मै ददाति ॥

अर्थात् दिगम्बर सुन्दरलालजी! देओ, देओ, आप गाली देओ, क्योंकि आप गालीवन्त हैं; कोई धनवान होता है, कोई बलवान् होता है, कोई कलावान होता है, कोई गुणवान् होता है तो कोई शीलवान् होता है; परन्तु आप गालीवान् ही ठहरे। भ्रमचारी जी! जो वस्तु जिसके पास होती है, वही

तो वह दूसरे को दे सकता है और देता है। खरगोश किसी को अपने सींग नहीं देता। क्योंकि उसके पास सींगों का एकान्त अभाव होता है।

भ्रमचारी जी! भगवान् के आदर्श जीवन मे, जो भगवान् के झूठन-कूठन खाने का भ्रम आपको हो गया है, वह तो आपकी बुद्धि की दिगम्बरता ही का कारण है। दिगम्बरता और टुकड़े घर-घर खाकर दिन तैर करने के, दो रोग उन्हें वर्षों से लथाड़ रहे थे। ऊपर से भ्रमचारीपन का रोग और लग गया। पाठको! इस असाध्य सन्निपात रोग की अवस्था में, कोई भी व्यक्ति बकने-झकने और कपडे फाड फेंककर, नंगा बनने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है? भ्रमचारी जी! यदि सचमुच मे, आप सत्य की डुगडुगी संसार के सामने पीटने वाले थे, तो क्यों नहीं उस ग्रन्थ के पृष्ठों का पता और आपके उन चुनिन्दा वाक्यों का उद्धरण यहाँ आपने कर दिया? भ्रमचारी जी! क्यो अपने नाम और काम का भडा फोड जगत् से यो करवाते है? सचेत होकर रहिए। नहीं तो वह समय अब बिलकुल आपके सिर पर ही लटक रहा है, जिस दिन, कि आपके घर का भीषण भण्डाफोड़ होगा।

कोई भी पुरुष केवली अवस्था मे आहार तो अवश्य करना ही है। क्योंकि उस अवस्था मे भी कई वर्षों तक शरीर यदि स्थिर रहा तो आहार-पानी तो उसे देना ही होगा। बिना आहार-पानी के वर्षों ज़िन्दा रहना कठिन ही नहीं, वरन् अ-

भी है। आधुनिक काल के विज्ञान और वैज्ञानिक लोग भी इस बात को मानने और मनवाने के उतारु नहीं हैं, कि बिना आहार-पानी के वर्षों तक कोई जिन्दा रह सकता है।

दिगम्बर मत के उमास्वातिजी ने मोक्ष-शास्त्र के नवमे अध्याय के ग्यारहवें सूत्र मे यों कहा है, कि—"एकादश जिने।" अर्थात् तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन अर्थात् केवली भगवान के क्षुधा तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शैया, वध, रोग,तृण स्पर्श और मल ये ग्यारह परिषह होते हैं।

जब केवली के क्षुधा-परिषह होता है, तो दिगम्बर मत के कथनानुसार ही केवली आहार अवश्य करते हैं। और जब वे आहार करेंगे, तो मल का परित्याग भी अवश्य वे करें,ही गे। यह तो कभी हो नहीं सकता ,कि वे भोजन तो सदा-सर्वदा करते जावे और मल का त्याग कभी करें नहीं। मल-मूत्र का त्याग न करने वाले दिगम्बर केवली को हमारा दूर ही से दण्डवत प्रणाम है। भ्रमचारी जी! ऐसा तो कोई औघड़-पंथी तक कभी नहीं करते। हाँ,जैसे अफ्रिका महाद्वीप के नीग्रो जाति के हब्शी लोग मल का त्याग करके पुनः उसे अपने शरीर ही पर वेसलिन की भाँति चुपड लेते हैं। वैसे ही वे दिगम्बर केवली भी मल का त्याग करके, यदि उसे इधर-उधर पृथ्वी पर न पटकें, और उसे अपने तन पर ही चुपड लिया करें, तो यह बात न्यारी है! तब तो उन दिगम्बर केवलियों को उसी महाद्वीप की भूमि मे जाकर उसे आबाद बनाना चाहिए। और हब्शी जाति के लोगों को जोड़ और

गुणा की क्रिया का पाठ पढ़ा कर, उनकी जाति की अभिवृद्धि में सहायता पहुँचानी चाहिए।

फिर भ्रमचारी जी! यदि केवली के भी वेदनी कर्म है, तो उसका उदय रोग के रूप मे, देर या सवेर मे अवश्य होता ही है। तभी तो दिगम्बर मत के उमास्वाति जी ने, केवली को भी ग्यारह परिषह होते हैं, स्वीकार किया है। स्वीकार ही क्यों उन्होंने लिखा भी है। उन सम्पूर्ण परिषहों मे, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, रोग अवश्य होते है।

भ्रमचारी जी! आँखें हों, तो ठीक; नहीं तो, जापान को दो-चार पैसों का एक एम० ओ० (M O अर्थात् Money order) कर दो, जो कौड़ी की तीन आँखों के हिसाब से, आँखों का एक बड़ा भारी बडल, पोस्ट करके आप के पास पहुँचा दे, जिससे सहस्र-नयन आप बन जावें, और तब संसार की वस्तु-स्थिति को, उस के असली रूप मे आप देख सकें। सुनिये आप ही के दिगम्बर मत के "बोध पाहुड़" नामक ग्रन्थ मे लिखा है, कि—

देसण अणंत णाणे, मोक्ख णणट्ठ कम्म बंधेण।
णिरुवय गुणमारूढ़ो अरहंतो एरिसो होइ ॥२६॥
जरवाही जम्म मरणच, गई गमण च पुण पावंच।
हेतूण दोस कम्मेहु, णाणसयं च ए अरहंतो ॥

इन गाथाओं की टिप्पणी मे लिखा है, कि क्षुधा, तृषा, मृत्यु, रोग, खेद, आदि छ. दोष अघातिक कर्मोदय से होते हैं। सो केवल ज्ञानी को होते हैं।

भ्रमचारी जी ! इतने प्रमाणों के मौजूद होते हुए भी, क्या अभी तक आप भ्रम मे ही पड़े रहेंगे ? यदि पड़े-रहे तो अफसोस है, आप की बुद्धि पर ! सचमुच मे, इसे पाला मार गया है !

"आदर्श-जीवन" मे कहीं भी भगवान् महावीर को शोक, भय और चिन्ता से चिन्तित नहीं बताया गया है। केवल, भ्रमचारी जी ने, अपने नाम को सार्थकता प्रदान करने करवाने के लिए, ऐसी बे-सिर-पैर की अनर्गल और असत्य बातें लिख कर, जनता के मन मे भ्रम को भरने का षडयन्त्र रचा है।

भ्रमचारी जी ! भगवान् महावीर तो श्वेताम्बर स्थानकवासी शास्त्रों के कथनानुसार ही थे। जिस के प्रमाण मे, गणधरों के द्वारा, यत्र-तत्र काफी प्रकाश डाला हुआ है। यदि भगवान् आप अपने भौतिक शरीर मे यहाँ होते, तो एक, दो और दस बार नहीं, वरन् सैकड़ों बार, आप को अपने मुँह की खानी पड़ती। और भयातुर बना कर प्राणों का मोह, आप लोगों को, किसी कब्रिस्थान की लम्बी कन्दरा मे जा छिपने का आदेश देता।

भ्रमचारी जी का खोपड़ा म्युनिसिपालिटी की कचरा-पेटियों के साथ समानता करने को, हरदम तत्पर रहता है। फिर, भ्रमचारी जी का दिमाग ठिकाने रहे भी तो कैसे ? यही कारण है, कि जो कुछ वे एक बार लिख जाते हैं, उस तक का भान उन्हें नहीं रहता। वे यही नहीं समझ पाते, कि क्या तो वे लिख आये हैं, क्या वे लिख रहे हैं, और क्या उन्हें लिखना है। अजी भ्रम-विलासी जी ! श्वेताम्बरों के शास्त्रों मे तो, कहीं भी इस

गुणा की क्रिया का पाठ पढ़ा कर, उनकी जाति की अभिवृद्धि में सहायता पहुँचानी चाहिए।

फिर भ्रमचारी जी! यदि केवली के भी वेदनी कर्म है, तो उसका उदय रोग के रूप मे, देर या सवेर मे अवश्य होता ही है। तभी तो दिगम्बर मत के उमास्वाति जी ने, केवली को भी ग्यारह परिषह होते हैं, स्वीकार किया है। स्वीकार ही क्यों उन्होंने लिखा भी है। उन सम्पूर्ण परिषहों मे, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, रोग अवश्य होते हैं।

भ्रमचारी जी! आँखें हों, तो ठीक; नहीं तो, जापान को दो-चार पैसों का एक एम० ओ० (M. O अर्थात् Money order) कर दो, जो कौड़ी की तीन आँखों के हिसाब से, आँखों का एक बड़ा भारी बंडल, पोस्ट करके आप के पास पहुँचा दे, जिससे सहस्र-नयन आप बन जावें; और तब संसार की वस्तु-स्थिति को, उस के असली रूप में आप देख सकें। सुनिये आप ही के दिगम्बर मत के "बोध-पाहुड़" नामक ग्रन्थ मे लिखा है, कि—

देसण अणंत णाणे, मोक्ख णाणट्ठ कम्म बंधेण।
णिरुवय गुणमारूढ़ो अरहंतो एरिसो होइ ॥२६॥
जरवाही जम्म मरणंच, गई गमणं च पुण पावंच।
हेतूण दोस कम्मेहु, णाणसयं च ए अरहंतो ॥

इन गाथाओं की टिप्पणी में लिखा है, कि क्षुधा, तृषा, मृत्यु, रोग, खेद, आदि छः दोष अघातिक कर्मोदय से होते हैं। सो केवल ज्ञानी को होते हैं।

भ्रमचारी जी ! इतने प्रमाणों के मौजूद होते हुए भी, क्या अभी तक आप भ्रम में ही पड़े रहेंगे ? यदि पड़े-रहे तो अफसोस है, आप की बुद्धि पर ! सचमुच में, उसे पाला मार गया है !

"आदर्श-जीवन" में कहीं भी भगवान महावीर को शोक, भय और चिन्ता से चिन्तित नहीं बताया गया है। केवल, भ्रमचारी जी ने, अपने नाम को सार्थकता प्रदान करने करवाने के लिए, ऐसी बे-सिर-पैर की अनर्गल और असत्य बातें लिख कर, जनता के मन में भ्रम को भरने का षड्यन्त्र रचा है।

भ्रमचारी जी ! भगवान महावीर तो श्वेताम्बर स्थानकवासी शास्त्रों के कथनानुसार ही थे। जिन के प्रमाण से, गणधरों के द्वारा, यत्र-तत्र काफी प्रकाश डाला गया है। यदि भगवान आप अपने भौतिक शरीर में यहाँ होते, तो एक, दो और दस बार नहीं, वरन सैकड़ों बार, आप को अपने मुँह की खानी पड़ती। और भयातुर बना कर प्राणों का मोह, आप लोगों को, किसी [illegible] की लम्बी कन्दरा में जा छिपने का [illegible]।

गुणा की क्रिया का पाठ पढ़ा कर, उनकी जाति की अभिवृद्धि में सहायता पहुँचानी चाहिए।

फिर भ्रमचारी जी! यदि केवली के भी वेदनी कर्म है, तो उसका उदय रोग के रूप मे, देर या सवेर मे अवश्य होता ही है। तभी तो दिगम्बर मत के उमास्वाति जी ने, केवली को भी ग्यारह परिषह होते हैं, स्वीकार किया है। स्वीकार ही क्यों उन्होंने लिखा भी है। उन सम्पूर्ण परिषहों मे, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, रोग अवश्य होते हैं।

भ्रमचारी जी! आँखें हों, तो ठीक; नहीं तो, जापान को दो-चार पैसों का एक एम० ओ० (M. O अर्थात् Money order) कर दो, जो कौड़ी की तीन आँखों के हिसाब से, आँखों का एक बडा भारी बडल, पोस्ट करके आप के पास पहुँचा दे, जिससे सहस्र-नयन आप बन जावें; और तब संसार की वस्तु-स्थिति को, उस के असली रूप में आप देख सकें। सुनिये आप ही के दिगम्बर मत के "बोध पाहुड़" नामक ग्रन्थ मे लिखा है, कि—

देसण अणंत णाणे, मोक्ख णट्ठ कम्म बंधेण।
णिरुवय गुणमारूढ़ो अरहंतो एरिसो होइ ॥२६॥
जरवाही जम्म मरणंच, गई गमणं च पुण पावंच।
हेतूण दोस कम्मेहु, णाणसयं च ए अरहंतो ॥

इन गाथाओं की टिप्पणी मे लिखा है, कि क्षुधा, तृषा, मृत्यु, रोग, खेद, आदि छः दोष अघातिक कर्मोदय से होते हैं। सो केवल ज्ञानी को होते हैं।

भ्रमचारी जी ! इतने प्रमाणों के मौजूद होते हुए भी, क्या अभी तक आप भ्रम मे ही पड़े रहेंगे ? यदि पडे-रहे तो अफसोस है, आप की बुद्धि पर ! सचमुच में, उसे पाला मार गया है !

"आदर्श-जीवन" मे कहीं भी भगवान् महावीर को शोक, भय और चिन्ता से चिन्तित नहीं बताया गया है। केवल, भ्रमचारी जी ने, अपने नाम को सार्थकता प्रदान करने करवाने के लिए, ऐसी बे-सिर-पैर की अनर्गल और असत्य बातें लिख कर, जनता के मन मे भ्रम को भरने का षडयन्त्र रचा है।

भ्रमचारी जी ! भगवान् महावीर तो श्वेताम्बर स्थानकवासी शास्त्रों के कथनानुसार ही थे। जिस के प्रमाण में, गणधरों के द्वारा, यत्र-तत्र काफी प्रकाश डाला हुआ है। यदि भगवान् आप अपने भौतिक शरीर मे यहाँ होते, तो एक, दो और दस बार नहीं, वरन् सैकड़ों बार, आप को अपने मुँह की खानी पड़ती। और भयातुर बना कर प्राणो का मोह, आप लोगों को, किसी क़ब्रिस्थान की लम्बी कन्दरा मे जा छिपने का आदेश देता।

भ्रमचारी जी का खोपडा, म्युनिसिपालिटी की कचरा-पेटियों के साथ समानता करने को, हरदम तत्पर रहता है। फिर, भ्रमचारी जी का दिमाग ठिकाने रहे भी तो कैसे ? यही कारण है, कि जो कुछ वे एक बार लिख जाते हैं, उस तक का भान उन्हें नहीं रहता। वे यही नहीं समझ पाते, कि क्या तो वे लिख आये हैं, क्या वे लिख रहे हैं, और क्या उन्हें लिखना है! अजी भ्रम-विलासी जी ! श्वेताम्बरो के शास्त्रों मे तो, कहीं भी इस

कि "कीचक मर कर नर्क में गया।" और, फिर दूसरे ग्रन्थ, "महा पुराण" मे बन्दर की भाँति छलाँग मार कर, उन्हीं ने यह लिख मारा है, कि "कीचक मर कर मोक्ष में गया।" वाह! धन्य! धन्य!! भ्रमचारी जी! और भ्रमचारी जी के नंगे गुरु! छलाँग भी ऐसी वैसी नहीं! एक ही शरीर-धारी को नर्क में भी रख दिया और निर्वाण मे भी वाह! गजब कर दिया।

भ्रमचारी जी की सूझ तो बडी ही अनोखी है। अरे, ऐसे-ऐसे गपाष्टक-पूर्ण पोथे रच-रचकर आपने लाभ ही कौनसा उठाया है?

गर्भ-हरण की सच्ची घटना को "नाटक" कह कर और लिख कर, भ्रमचारी जी ने स्वयं अपने ही हाथों, अपने मुँह पर कालिमा पोतने का नाटक, दुनिया को दिखाया है।

अजी, दिगम्बर (?) सुन्दरलाल जी! जरा अपने दकिया-नूसी विचारों को छोड़ कर भारत तथा भारत के बाहर अन्य देशों अर्थात् इंगलैंड, जर्मनी, जापान, अमेरिका, फ्राँस आदि के हॉस्पिटल्स को तो अपनी आँखो से जाकर देखो। इस युग में वहाँ के डॉक्टरो ने चीरा-फाडी की कला मे क्या कमाल कर दिखाया है। जब तुम्हें यही मालूम नहीं, कि तुम्हारे खुद ही के पड़ौस मे, कहाँ और क्या हो रहा है, तो फिर इसमे दूसरों का तो दोष ही क्या? यदि जगत के जीवन, सूरज के प्रकाश को उल्लू देख तथा अनुभव न कर सके, तो इसमे दोष उल्लू की अन्धी आँखो का है या सूरज का? कूप-मडूक के लिये तो कूप ही

उसका सागर और महा-सागर है। उस वेचारे को पता ही क्या? कि उसके कूप के बाहर संसार मे कोई सागर तथा महा-सागर है। उल्लू को तो दिन के समय भी दशों दिशाओं मे केवल अँधेरा-ही-अँधेरा दीख पड़ता है। अत वेचारा देख भी वह क्या सकता है? भ्रमचारी जी! पहले जरा दुनिया मे घूम-फिर कर और अनुभव प्राप्त करके, अपना हौंसला बढ़ा लें। फिर वाद-विवाद करने के लिये कमर कसियेगा! अनुभव-हीन रह कर क्यों अपना मखौल दुनिया मे आप उड़वा रहे हैं! अच्छा तो यही होता, कि चुप्पी साव कर के चुपचाप बैठ रहते। जिससे आपके गुणों (?) का चूँ कोई भंडाफोड़ करने का कभी साहस तो नहीं करता। क्योंकि कोई मूर्ख तभी तक बुद्धिमान् समझा जाता है, जब तक कि वह मौन साधे रहता है। भ्रमचारी जी! कान उमेठ-उमेठ कर, कुदरत आपको प्रतिक्षण बता रही है, कि जितना सुनो, उसका आधा-मात्र सदैव बोलो। और अपने इसी सिद्धान्त की पूर्ति के लिये तो उसने आपके शरीर मे दो-कान तथा एक ही मुख बनाया है।

आज के युग में, विज्ञान और डॉक्टरों ने वे-वे कार्य कर के दिखाये हैं, जिन्हें देख-देख कर लोग दाँतों-तले अँगुली लगाते हैं। यह बात सूर्य के प्रकाश-जैसी सीधी-साधी और उज्वल सत्य है। हमारे इस कथन के लिए, दुनिया का कोई भी व्यक्ति आज, शंकाशील नहीं है! किन्तु हाँ, जिस की खोपड़ी औंधी हो, उसे समझाया भी कैसे जाय! भ्रमचारी जी! भला,

जब आज-कल विज्ञान की करामात और डॉक्टरों की कला-कुशलता से अनेकों अपूर्व काम जगत् मे होते हुए देखे-सुने जा रहे हैं, तब दैविक शक्ति के लिए, महावीर के गर्भ का अपहरण करना, कौन अनहोनी और अचरज की बात थी? हाँ, इस मे आश्चर्य करना, केवल भ्रमचारी जी–जैसे मन्द-बुद्धि के व्यक्तियों की अज्ञता और हठ-धर्मी-पन के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

एक प्रश्न यहाँ यह किया जा सकता है, कि क्या, देवता किसी के कर्म-फल को बदल सकते हैं? या, किसी के कर्म-फल की रेख मे मेख मार सकते हैं? यदि नहीं, तो गर्भापहरण की घटना का क्या मोल रह जाता है? इसका उत्तर यूँ दिया जा सकता है, कि भगवान् को अपना कर्म-फल, बस, इतने ही दिनों के लिये भोगना था, जितने दिन, कि वे गर्भवास में रहे। परन्तु कर्म-फल की समाप्ति होते ही, हरिनैगमेषी देव ने, इन्द्र के आदेश से, गर्भ संहरण कर लिया। *

पाठको! देवानन्द जी और त्रिशला देवी के बीच, पूर्व-जन्म के एक कर्म-बन्धन का सम्बन्ध था। बस, उसी बन्धन का यह फल था। अर्थात् त्रिशला देवी का गर्भ देवानन्दा के यहाँ पहुँचाया गया, और देवानन्दा का गर्भ त्रिशला देवी के गर्भ मे

* देवानन्दा ने जो अपने पूर्व-भव में, त्रिशला देवी के जीव का एक बहुमूल्य रत्न चुरा लिया था, उसी रत्न-चोरी का बदला, इस भव में, पुत्र रत्न के अपहरण से चुका लिया गया गया। —'कल्प सूत्र'

आया। अब ज़रा, भ्रमचारी जी ! आप अपनी आम्नाय के अनुसार ही एक गर्भापहरण का हाल सुनिये।

आप के दिगम्बर मत के ग्रन्थ "हरिवंश-पुराण," और भावप्राभृत, आदि मे भी ऐसा ही लिखा है, कि "राजा कंस से रक्षा करने के लिए इन्द्र की आज्ञा से,हरिनैगमेषी देवता ने, रानी देवकी के पुत्रों का, एक अलका नामक बनियानी के यहाँ अपहरण कर दिया। और उसके मृतक पुत्रों को देवकी के यहाँ पर ला दिया। इतना ही नहीं, इस अदला-बदली का इन दोनों नारियों को कोई पता तक न लगा। बाद मे ये लडके मोक्ष को गये। "भ्रमचारी जी ! आये न पकड़ मे ? एक ही भव मे एक-ही-एक पुत्र के दो-दो बाप और दो-दो माताएँ, आपके यहाँ भी मौजूद हैं न ? और अपने उसी भव मे वे जीव मोक्ष में भी गये, ऐसा माना गया है न ? ज़रा छाती पर हाथ रखकर, क्या अब भी आप यह सकने का दम भर सकते हैं, कि उन पुत्रों के जो दो-दो माता और दो-दो पिता लोग हुए, वे दोनों जाति से एक ही थे ? भ्रमचारी जी ! अब तो बोलिये, कि "जन्म तो उन पुत्रों ने क्षत्रियानी के घर लिया था, और देव ने उन्हें बना दिये थे बनिये !" थोड़ी देर के लिये, जो-जो दलीलें समाधान के हेतु, आप अपने यहाँ देते हैं, यदि दिल को उदार बनाकर समाधान के लिये, वैसी ही कोई प्रमाण-मूलक दलीलें हमारे यहाँ भी मानलें, तो उससे कौन सा आपका नुकसान होता है ? परन्तु छिन्द्रावेषी लोग, ठीक जोंक के समान होते हैं।

और जोंक का स्वभाव होता है, "पिवै रुधिर पय ना पिवै; लगी पयोधर जोंक।" अर्थात् किसी स्तन मे जो कोई जोंक कभी जा चिपटे, तो अपने जन्म-जात, गुण, धर्म और स्वभाव के कारण वह वहाँ दूध का पान तो नहीं करती, वरन् दूषित खून ही को वह पीती है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार आपके यहाँ देवकी के गर्भ की जो अदला-बदली हुई उसका, जरा प्रमाण भी आप देख लीजिये—

"तान् देवकी पुत्रान् ज्ञानवान् शक्रश्चरमाङ्गान् ज्ञात्वा नैगमर्ष देवं प्रोवाच एताम् त्वं रक्ष स च भद्दिल पुरे अलकाया वणिक पुत्र्या अग्रेतान् निचिक्षेप, तत्पुत्रा स्तदा तदाभूतान गृहीत्वा मृतान् देवक्यग्रे निचिक्षेप।"—[भाव-प्राभृत]

श्वेताम्बर सूत्रों के इस गर्भापहरण-सम्बन्धी कथन पर, सुन्दरलाल जी असम्भवता का दोषारोपण करते हैं। और छाती फुला-फुला कर वे कहते हैं, कि "इस प्रकार की घटना तो कभी घट ही नहीं सकती। और यही बात, अपनी पुस्तक मे लिखते हैं। भ्रमचारी जी ! कूप-मंडूकता को तिलाजलि देकर जरा देश-देशान्तरों का भ्रमण करो; और वस्तु-स्थिति को अपनी चमड़े की नहीं, वरन् ज्ञान की आँखों से देखो-भालो तथा उस पर, तत्र मनन-पूर्वक एवं पक्ष-पात-हीन हृदय से विचार करो, तो आपको इस गर्भापहरण की बात मे असम्भवता जैसी कोई बात मालूम न देगी। आज के कई चतुर चिकित्सा-शास्त्री

लोग, जिन की बुद्धि, देवताओं की बुद्धि और कौशल के आगे न कुछ-सी होती है, गर्भवती के पेट से गर्भ को निकाल कर और उसे किसी पेटी आदि मे सुरक्षित-रूप से रख, उस गर्भवती के पेट का शोधन करके फिर उसी गर्भ को-उसी के पेट मे सरलता पूर्वक रख देते हैं। तब नियमानुसार उस पेट को सीकर-फिर उस गर्भवती को पहले-ही-जैसी स्वस्थ दशा मे वे ला देते है। ऐसे एक दो-या सौ नहीं, वरन् हज़ारों कार्यों को, आज का विज्ञान सरलता पूर्वक संसार से करवा रहा है। जब मानव-शक्ति के बल से ही, आज कई ऐसे अपूर्व और अद्भुत कार्यों का सुचारु रूप से संपादन हो रहा है और हो जाता है, तब भगवान् महावीर का गर्भ-संहरण तो देवता ने किया था। जिसे जैन-शास्त्रों तथा अन्य मत के शास्त्रों ने अत्यन्त विचित्र शक्तिशाली माना है।

भ्रमचारी जी। यदि हमारे इस कथन पर भी आपके दिल का भ्रम अभी तक भग न हुआ हो, तो आइये अब हम आप ही के घर मे घुस कर, आप ही के घर-आँगन का ज्ञान आपको करावें। सुनिये आपके यहाँ, जो देवता, आपकी "पद्मपुराण" के कथनानुसार, सीता के लिये धधकते हुए अग्नि-कुंड को एक जल के कुंड के रूप मे बदल सकते हैं, और उसमें कमल तक खिला सकते हैं, जो देवता आपके, "सुदर्शन चरित्र" के वर्णन के अनुसार शूली को स्वर्णसिंहासन का रूप दे सकते हैं, और तलवार को मणिमाला बना देते हैं। जो देवता आकर "सोमारानी के चरित्र" मे वर्णित वर्णन के मुजिब काले सर्प को एक सुन्दर

फूल-हार मेबदल देते हैं, जो देवता, "पद्म पुराण" के परशुराम चरित्र वाले मृतक मनुष्यों के निकाले हुए दाँत और हाडों के ढेर को खीर बना सकने की सामर्थ्य रखते हैं, और भोजन करने की एक साधारण-सी थाली मात्र को, हजारों नरों के सिरों को उनके धड़ों से बात-की-बात मे अलग कर देने वाला चक्र बना डालते हैं, क्या वे ही देवता, श्वेताम्बरों के यहाँ आकर एक गर्भ-सहरण जैसे साधारण से काम को भी कर सकने मे असमर्थ रह जाते हैं ? जिसको आज कल के वैज्ञानिक युग के कोई भी चतुर चिकित्सा-शास्त्री सहज ही मे कर सकते हैं। परन्तु भ्रमचारी जी की बुद्धि को कदाचित् चूहों ने कतर खाया है। इसीलिये तो हठ धर्मी-पन और भेद-भाव उनकी आँखों मे समाया हुआ है। अजी दिगम्बर भ्रमचारी जी—"भेद-भाव को दिल से तोड़, निर्भय बैठा मूँछ मरोड" वाली उक्ति को चरितार्थ करो, अन्यथा रही सही मेधा शक्ति भी वेचारी मारी जावेगी।

भ्रमचारी जी ! आपके "हरिवंश-पुराण" का एक पचड़ा और सुनिये। उसमे लिखा है, कि "एक दिन मुनि सुव्रतनाथजी ने वृषभदत्त सेठ के घर आहार किया। तब तो देवताओं ने प्रसन्न होकर उस सेठ के घर पर रत्न और फूलों की वर्षा की। जिस भोजन मे से मुनि को आहार बहराया था, वह इतना अधिक हो गया, कि सौ और हजार नहीं, परन्तु हजारों अन्य मुनियों ने उनके पश्चात् भर-पेट भोजन कर लिया, फिर भी वह उतना-का-उतना ही बना रहा। यही नहीं, उस सेठ ने उस

भोजन में से शहर के हजारों मनुष्यों को भोजन करवा दिया तब भी उसमें एक रत्ती-भर की भी कमी न हुई। वाह! गप्प भी हाँकी तो कैसी छोटी (?) कि जिसका ओर-छोर तक नहीं! पर भ्रमचारीजी! जरा छाती पर हाथ रखकर, और अपनी अन्तरात्मा को साक्षी बना करके कहिये तो, कि कभी ऐसी बातें आज भी संसार में कहीं होती हैं? क्या आज के विद्वत् समाज के सामने इन बे-सिर-पैर के गप्पों का कोई मूल्य है? अजी यह हो ही कैसे सकता है? परन्तु हाँ, वह आपके दिगम्बर (?) ग्रन्थों मे लिखा है। इसीलिये यही क्या जिसका कहीं कोई नामो-निशान तक नहीं, वह भी हो सकता है। वाह! क्या ही अनोखी सूझ है।

उसी "हरिवंश-पुराण" में एक स्थल पर कहा गया है। कि राजा दक्ष, जो मुनि सुव्रतनाथ जी के पोते थे, उन्होंने अपनी खुद की पुत्री ही को अपनी स्त्री बना लिया। और उसके साथ उन्होंने अनेकों अनाचार के काम किये। छि! छि.!! कितनी गॅदली बात! तीर्थंकरों के पोते! और ऐसे अनाचार-पूर्ण तथा आततायी-पन के उनके काम!! हा हन्त! अनेकों, 'पशु' कहलाने वाले प्राणी तक ऐसा जघन्य कार्य कभी नहीं करते। यदि पशुओं की बात को जरा परे भी रख दें, और मनुष्यों ही को ले लें तो सभ्य समाज के पास रहने वाला, कोई चाण्डाल-से-चाण्डाल नर तक, ऐसा पाप-कर्म करने पर कभी उतारु नहीं हो सकता। परन्तु भ्रमचारी जी! पशोपेश में न पड़िये! यह तो दिगम्बरों की 'हरिवंश-पुराण" का काम है। जिसके रच-

यिता स्वयं दिगम्बर मुनि जिनसेनाचार्य थे। मुनि जी ने, फिर भी थोडी मर्यादा की मर्यादा को रखली।

अच्छा, भ्रमचारी जी! अब जरा, "त्रिलोक-सार" की चासनी भी चखिये। उसके श्लोक ६१७ की व्याख्या करते हुए पं० टोडरमल जी लिखते हैं, कि "अन्तरद्वीपों में ऐसे मनुष्य हैं, जिनके मुँह घोड़े, कुत्ते, सूअर और उल्लू आदि के-से होते हैं। कई मनुष्य ऐसे हैं, जिनके एक ही जाँघ होती है। अनेकों के सिर पर सींग होते हैं। और कइयों के पूँछें भी! बहुत-से मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनके कान इतने लम्बे और विस्तृत होते हैं, कि वे उन्हें काम पड़ने पर वस्त्र की भाँति ओढ़ और बिछा तक सकते हैं। वाह! कितना सफेद झूठ है। अब तो राक्षस सभी तरह के सिद्ध हो गये। अब उन्हें झूठा तो किसी मुँह से कोई कह ही नहीं सकते। पाठको! क्यों, भ्रमचारी जी की मीठी चुटकी से मजाक उनका उड़ाते है? वे या उनके अन्य मतावलम्बी, जो भी कुछ कहते हैं, सब ठीक है, यही क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि "त्रिलोक-सार" तो आखिरकार दिगम्बरों ही का ठहरा! अतएव हर शक्ल के राक्षस मानने वाले सब झूठे और दिगम्बर सब सच्चे! अजी! भ्रमचारी जी बड़े भाग से उत्तम मानव-जीवन पाया है। तब इसे बेकार सिद्ध करके, क्यों घोड़े, कुत्ते, सूअर और उल्लुओं की सन्तानें आप बनते हैं? क्या अपने मानव-जीवन से आपकी इतनी जबरदस्त घृणा हो आई है, क्या उससे आप इतने अधिक उकता उठे हैं, कि उसे छोड़

कर इसी भव मे, आप घोड़े, ऊँट और उल्लू की सन्तानें बनने के लिये अपने दिगम्बर वेष ही मे घर से निकल पडने के लिये छटपटा रहे हैं ? वाह रे दिगम्बर भ्रमचारी जी ! सच है "कहा निचोरै नग्न जन, न्हान सरोवर कौन।"

"पद्म-पुराण" मे लिखा है, कि "एक दिन राक्षस राजा रावण कैलाश पर्वत को उखाड़कर समुद्र मे फेंक-पटकने के लिये जमीन को भेदन कर, पाताल मे प्रवेश कर गया। और नीचे की ओर सिर को लगाकर, पहाड को उखाड़ फेंकने के लिये, उसके साथ मल्ल युद्ध करने लगा। परन्तु बाली जी के अँगूठे के दबाव के प्रभाव से वह बेचारा वहीं पिसकर रोने लगा।" उसी के आगे चलकर यह भी लिखा हुआ पाया जाता है, कि "रावण ने जिन-प्रतिमा के आगे नाच किया। और अपनी बाँह की नस काटकर उसको ताँत के समान इकतारा करके उसने वहाँ बजाया। कितनी बेहद गप्प ! क्या कोई पाताल में जाकर अपने सिर से पहाड़ को उठा सकता है। और अपनी नस को काटकर आप ही उसका इकतारा बना बजा भी सकता है ? वाह रे भ्रमचारी जी ! यदि ऐसी बे पते की बातें तुम न कहो तो जगत् मे दिगम्बर तुम रह ही कब और कैसे सकते हो ?

एक स्थल पर, "पद्म-पुराण" मे यह भी लिखा है, कि—"जटायु (गीध) एक परिन्दा था। मुनि के दर्शन से वह सोने का बन गया। और उस के सिर पर, रत्न तथा हीरों की जटा निकल आईं। वाह रे असत्य भाषियों ! ये गप्पे लगा-लगा के ही भोले

मानव जगत् को अपनी चंगुल में तुम लोगों ने फँसाया है! पाठको! हाड़, माँस और चाम के शरीर-धारी परिन्दे भी, भला रूँ कहीं स्वर्ण के बन सकते हैं? और उन के सिर पर रत्न तथा हीरों की जटा निकल सकती है? फिर, गीध के भी कहीं जटा होती है? अजी नंगे गुरुओं को मानने वाले भ्रमचारी सुन्दरलाल जी! गीधों की जटा को, आपने भी अपनी स्वतः की आँखों से, कहीं और कभी देखा है? जान पड़ता है, गीधों की बातें कहते और सुनते-सुनते भ्रमचारी जी कहीं स्वयं ही गीध बन गये होंगे। और तब उन्हों ने अपनी गिद्ध दृष्टी से, पाताल के परले पार से इस सत्य (?) की शोध लगायी होगी! वाह रे दिगम्बर बुद्धि के आचार्यों! तुम्हारे इस व्यावहारिक ज्ञान के आगे तो, बेचारा वृहस्पती तक लज्जित हो कर नत-मस्तक हो जाता है। यही कारण है, कि दिन मे वह कभी तुम्हारे सामने तक नहीं आता। और रात मे भी जब कभी आकाश मे वह दिख पडता है, तो उसका मुँह पीला नजर आता है।

पाँडव पुराण मे लिखा है, कि—"भीमसैन, एक दिन, एक हलवाई की दुकान पर पहुँचा। और बात-की-बात मे, उस की मिठाई से भरी हुई दुकान को खाली करदी। सारी मिठाई को, वह हाँ कहते मे, चट कर गया। फिर आगे चल कर, इसी पुराण के पन्द्रवें अध्याय मे लिखा है, कि—"एक राजा था। वह गाड़ी-भर मिठाई, एक भैंसा, और एक आदमी को रोज़

खा जाया करता था। हिमालय-जैसा कितना बड़ा झूठ! राजा, आखिर कार कोई आदमी ही रहा होगा। एक आदमी, और इतना बड़ा आहार! हाँ भ्रमचारी जी! यह "पॉडव-पुराण" दिगम्बरों का है। अस्तु इस मे जो भी कुछ न हो जाय, वह थोडा ही है।

प्रेमी और विचारशील पाठको! देखा! दिगम्बरों का दिमाग। दिगम्बरों की अनोखी सूझ! और दिगम्बरों के सच्छास्त्रों का अन्तर्पट! उन में, ऊपर जैसी, एक नहीं, दो नहीं दस नहीं, वरन् सैंकड़ों अनर्गल, मिथ्या, और ऊबड़-खाबड़ तथा असम्भव बातें और घटनाओं का संभव होना माना गया है। यदि उन्हें कोई झूठ कह देता है, तो झूठ साबित करने की युक्ति-युक्त चेष्टा करता है। तो ताल ठोक कर, और गाली-गलोज, के अस्त्र-शस्त्रों को अपने हाथ मे ले, वे अपने दिगम्बर वेष में जगत् के सामने, मैदाने जंग मे आ धमकते हैं। इस के विपरीत श्वे० ग्रन्थों मे यत्र-तत्र वर्णित सम्भव, अनुभव-सिद्ध और वैज्ञानिक संसार मे हलचल मचा देने वाली बातों या घटनाओं तक को, वे अपने दुराग्रह के कारण, मानने के लिये उतारु नहीं होते। परन्तु सत्य-रूपी सूर्य छिपा भी कैसे रह सकता है? लाख-लाख बादल के पर्दे उस पर डाले जाँय, पर वह छिप कभी नहीं सकता। यह है, सत्य के सुन्दर और प्रखर प्रकाश का दिव्य रूप, जिसके आगे जगत् के झूठे, बिना नींव के और मन घड़न्त मत-मतान्तर कभी टिक नहीं सकते! छू मन्तर होकर बात की बात में उड़ जाते

हैं। गर्भापहरण, भगवान् महावीर का जो हुआ है, वह देवताओं के द्वारा हुआ है। ऐसा श्वेताम्बर लोग मानते हैं। और देवताओं की शक्तियाँ जैन धर्म में बड़ी ही विचित्र और आश्चर्यकारक मानी गई हैं। यदि इस बात को दिगम्बर भाई नहीं मानते, तो सब से पहले वे स्वयं इन देवताओं की शक्तियों और सत्ता से इंकार कर दें। और अपने ऐसे उन सम्पूर्ण कथानकों को, जो उनके शास्त्रों मे यत्र-तत्र बिखरे हुए पड़े हैं। एक-एक को उनमे से ढूँढ-ढूँढ कर निकाल बाहर पटक दें, और तब श्वेताम्बरों से वे कुछ कहें, तो उनके उस कथन का कुछ सजीव असर भी हो सकता है। अन्यथा भगवान् के दिव्य गुण-कर्मों की व्यर्थ ही मे निन्दा करके कर्म -भर बाँध लेने के वे भागी-मात्र बनते हैं। इस से श्वेताम्बरों का राई-रत्ती-भर भी कोई बिगाड़ कभी हो नहीं सकता। अच्छा हो, कि ये दिगम्बर लोग ऐसीं नुक्ताचीनी सदा-सर्वदा करते रहें। जिस से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग भी सचेत होकर अपने धर्म-शास्त्रों का विलोडन मनन-पूर्वक करते रहें। और आये दिनों, अपने प्रति-पक्षियों को ऐसा मुँह-तोड़ उत्तर वे दे सकें जिससे वे आगे कभी अपना मुँह खोलने का साहस ही न करने पावें।

बुद्धि का दिवाला खस काने वाले अजी भ्रमचारी जी! यदि आपको अपना मानव-जन्म ही सफल करना है, तो अपने दिल और दिमाग को जरा काबू मे रखना सीखलो। और कभी किसी पर असत्य आक्षेप तो भूल कर भी न करो। फिर न मानों तो

अर्जी रावरी ! मन में जैसी भी अंट संट और बे बुनियाद बातें आवें, उन्हें लिख-लिख कर अपने इस मानव-भव में ही वाह-वाही तथा प्रशंसा करवा लो। क्योंकि न जाने इस भव के पश्चात् फिर कभी तुम्हें ऐसा सुन्दर सुयोग मिले या न मिले। अतएव लूट लो,इस बहती हुई वाह-वाही को ! धोलो हाथ ,मल-मल कर इस बहती हुई गंगा मे!! सचाई के प्रकट हो जाने पर यह मौका तुम्हें तो फिर कभी हाथ लगने का नहीं।

मुनि श्रीचन्द्र जी ने "सत्या-सत्य-मीमांसा" लिखकर भ्रमचारी जी ! आपके दिगम्बर मत के वे-वे भंडा-फोड़ उन्होंने किये है, जिनका वास्तविक उत्तर आपके सम्प्रदाय के पास कुछ भी नहीं है। मुनि श्रीचन्द्र जी की सम्पूर्ण दलीलें अकाट्य, वास्तविकता से भरी-पूरी और सचाई से ओत-प्रोत हैं। परन्तु न्यामतसिंह जी ही तो ठहरे ! टीकरी मे वे रहते हैं। बस, इसी से उनकी बुद्धि भी कोयले-सी काली और ठीकरी-जैसी मलीन हो गई है। तभी तो उनने "सत्य-परीक्षा" मे अंट-संट और "कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा और भानुमति ने कुनबा जोड़ा।" वाली बातें लिखकर, अपनी अज्ञता को जग-जाहिर कर दिया है। यही नहीं, उन बे-बुनियाद बातों को अपने ही मन मे भली समझ कर, अपने ही मुँह से मियाँ-मिट्ठू बनने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। और अपने-आपको नीचे वाली एक कवि की उक्ति के अनुसार बड़े भारी विजयी भी वे मान बैठे हैं—

अम्मा ! मैंने मल्ल पछाड़ा, छाती ऊपर धम्म।

वह शरमिन्दा नीचे देखे; ऊपर देखें हम्म ॥

न्यामतसिंह जी ! अपनी पुस्तकों में, वेही-वेही प्रश्न और वेही-वेही बातें बार-बार सामने लाते हैं, जिनके प्रामाणिक, शास्त्र और व्यवहार-संगत तथा अकाट्य उत्तर एक नहीं, वरन् कई बार पा चुके हैं। सज्जनों ! यह तो आप जगत् मे सदैव ही देखते हैं, कि वह व्यक्ति जो एक-ही-एक कपड़े को रोज़-रोज़ पहनता है एक ही जोड़ी जूतों को जो सदैव धारण करता है, सामन्यत. वह प्रत्येक व्यक्ति, जो उस आदमी को रोज़-रोज़ देखता है, यह अनुमान लगा सकता है; कि वह दरिद्री है, वह दीन-हीन है, वह गरीब और मुँह-ताज है। इसी सिद्धान्त से विचार-शील पाठको ! आइये, ज़रा न्यामतसिंह जी की बुद्धि, विवेक और ज्ञान का माप कीजिये। मिस्टर न्यामतसिंह जी एक ही बात का बार-बार रोना रोते हैं। वे पीसे हुए को फिर पीसते हैं। धन्य ! कदाचित् यही कारण है, कि न्यामतसिंह जी द्वारा रची हुई घासलेटी और घृणित साहित्य की पुस्तकों का जैन-जगत् के कई माननीय एवं विवेक-शील विद्वानों ने पूर्ण-रूप से तिरस्कार कर दिया है। उनमे से कुछेक सज्जनों के नाम हम यहाँ उद्धृत किये देते हैं। जैसे (१) श्रीमान् पं० परमेष्ठीदास जी जैन, न्यायतीर्थ, (२) श्रीयुत मुख्तार जुगलकिशोर जी, (३) श्रीयुत बाबू सूर्यभानु जी, (४) श्रीयुत पंडित गजाधरलाल जी; आदि। तब तो मिस्टर न्यामतसिंह जी के पास अब रही ही क्या जाता है ?

ब्रमचारी जी! श्वेताम्बरों के शास्त्रों में भगवान् महावीर-सम्बन्धी गर्भ और जन्म-वाली सारी बातें सोलह-आना सत्य हैं, शास्त्र-सम्मत हैं और हैं विज्ञान का मन मिलाती हुई। प्रमाण भी इनके सत्यता के सम्बन्ध में हम पीछे दे ही आये हैं। आप, महावीर दो क्या, चाहे सौ मानते रहें। क्योंकि जिनके लिये दो हो गये उनके लिये सत्तर और अस्सी सब एक-ही-से हैं। मसल मशहूर है, कि—

"एक छोड़ दो से फँसी, जैसे सत्तर वैसी अस्सी।"

हम श्वेताम्बरों के सच्छास्त्रों मे, दो महावीर का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं। हमारे यहाँ तो महावीर एक ही हुए हैं। और उन्हीं एक का गर्भापहरण हुआ था। जिसका विवेचन हम ऊपर कर ही आये हैं। और जो भी महावीर हुए हैं, वे हेमचन्द्राचार्य द्वारा बताये गये अठारह दोषों से रहित हुए हैं। भगवान् महावीर आहार और निहार करते हैं, यह बात भी हम तुम्हारे ही ग्रन्थों से ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। श्वेताम्बरों के ग्रन्थों में महावीर के लिये शोक, चिन्ता आदि का कहीं कोई उल्लेख तक नहीं। वीर प्रभु ने मद्य, माँस वगैरह अभक्ष्य और अपेय पदार्थों का सेवन न तो स्वयं ने ही कभी किया और न दूसरों ही को इनके सेवन का कोई उपदेश ही उन्होंने कभी दिया। यह तो आप जैसे सुपूतों (?) ही को शोभता है, जो एक ओर तो वीर प्रभु को अपना वन्दनीय पिता मानते रहें, और अपने आपको उनकी सन्तानें तथा अटल अनुयायी जग-जाहिर करते

रहें, और दूसरी ओर उन्हीं सर्वज्ञ प्रभु के भौतिक शरीर के मुख पर कलंक की ऐसी कालिमा भी पोतते रहें। अजी दिगम्बर विद्या-बुद्धि के भ्रमचारी जी! यूँ अपनी इस ज़बान को लपलपाते हुए क्यों माँस नहीं खाने वाले भाइयों को, मांसादि पदार्थों को खाने-पीने के लिये लालायित और उत्तेजित कर रहे हो? भगवान् महावीर को श्वेताम्बर लोग तो कभी भूल कर भी माँस खाने वाला कभी नहीं कहते, और न किसी श्वेताम्बर-शास्त्र ही में, इस बात का कोई ज़िक्र ही कभी हुआ है। सज्जनों! वीर महा प्रभु ने माँस खाने का उपदेश तो कभी नहीं दिया। वरन् हाँ; माँस और मदिरा का सेवन करने वालों के लिये नर्क जाने का कथन तो उन्होंने स्थान-स्थान पर किया है। अस्तु!

भ्रमचारी जी! आपने आगे चल कर "धर्म-परीक्षा" ग्रन्थ के पृष्ट ८१२-८१३ के श्लोक दिए हैं। वे बिलकुल अप्रामाणिक हैं। क्योंकि 'धर्म-परीक्षा' ग्रन्थ स्थानकवासी समाज की मान्यता का ग्रन्थ नहीं है। फिर उसका प्रमाण देना निरी अज्ञता नहीं तो और क्या है?

इसी प्रकार उपमित भवपच कथा का उदाहरण भी गलत है। क्योंकि प्रमाण मे जो श्लोक तुमने रखा है, उस श्लोक में तो क्षुधा, तृषा की गन्ध तक नहीं है। तो फिर बिना बाप के पुत्र उत्पन्न होने के समान भावार्थ मे क्षुधा, तृपा कहाँ से आगई है? यह तो आप ही की करतूत मालूम होती है।

पाठको ! भ्रमचारी सुन्दरलाल जी निरे निरक्षर हैं । उन्हे यह तक भान नहीं होता, कि वे लिख क्या रहे हैं । उन की प्रत्यक्ष निरक्षता का एक नमूना लीजिये । वे भगवती जी सूत्र के पृष्ठ २११४ का उदाहरण देते हैं । जो शशक-शृंग के समान सोलह-आना गलत है । उन ने लिखा है, "महावीर के शरीर में रोगान्तक उत्पन्न हो गए। वह ज्वलन यावत् सहन कर सके नहीं।" पाठको ! इन भ्रमचारी जी का ऐसा लिखना, उन के, आँखों से अन्धे होने और बुद्धि के बौरा-जाने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परायों के कथन को तोड़-मरोड़ कर के, अपना बना कर लिख मारना, डाकुओं का काम है । इन साहित्यिक लुटेरों को, यह विचार तक नहीं बँधता, कि परायों के माल को अदल-बदल कर उस पर अपने नाम का ठप्पा मार देने भर से, वह इनका नहीं होजाता । किन्तु हाँ पोल खुल जाने पर ये साहित्यिक डाकू अवश्य कहलाने लगते हैं । और समाज की, आँखें इन्हे हिकारत की नज़रों से देखने लगती है । तथा, आत्म-धिक्कार के शिकार जो बनते हैं। यह तो बिलकुल ही बट्टे खाते होता है ।

पाठको ! इन्हीं भ्रमचारी जी की काली करतूतों के यत्किंचित् नमूनों की बानगी-भर दिखाने के लिए, हम उसी श्वेताम्बरीय श्री भगवती जी सूत्र के पृष्ठ २११६ का मैटर अविकल रूप से यहाँ दिये देते हैं । वहाँ लिखा है, "महावीर स्वामी के शरीर में विपुल रोगान्तक उत्पन्न हुआ, वह उज्वल यावत् सहन नह हो सके वैसा हुआ ।"

"सहन नहीं हो सके वैसा हुआ" इस वाक्य को, चकाचौंध के चक्कर मे भ्रमण करने वाले भ्रमचारी जी ने, अपनी सड़ी हुई बुद्धि से, तोड़-मरोड़ कर, और भगवती जी सूत्र की ओट में अपने आप को छिपा कर, यूँ लिख मारा, कि "सहन नहीं कर सके। मनीषी पाठको! निष्पक्ष-भाव से स्वयं विचार करें, कि भ्रमचारी जी ने इस वाक्य को कितना भ्रम की भूल-भुलैया मे डाल कर, लिख मारा है।

श्वेताम्बरीय सूत्रों मे जो लिखा है, कि "सहन नहीं हो सके, वैसा हुआ।" इस का अर्थ इतना स्पष्ट है, कि जिसे बच्चा तक जान सकता है। अर्थात् भगवान् महावीर को ऐसा रोग उत्पन्न हुआ, जिस रोग को कोई दूसरा व्यक्ति सहन कर नहीं सकता। किन्तु मायावियों के मुकुट-मणि भ्रमचारी जी ने यों लिख मारा, कि "सहन नहीं कर सके।" जिस से साफ-साफ यह ध्वनि और अर्थ निकल रहा है, कि वह रोग इतना भयंकर था, कि "स्वयं भगवान् महावीर उस रोग को सहन नहीं कर-सके।" वाह रे मन्द-मति! जब स्वयं भगवान् तक से तुम न चूके, तो परायों से तो चूक ही कैसे सकते हो?

विचारशील विज्ञ पुरुषों! देखा न? भ्रमचारी जी के औंधे खोपड़े की उलटी सूझ को? इन ने अर्थ का अनर्थ कर के, अपने भोले भाइयों को, अपने समान भ्रम के किसी भयंकर और गहरे कूप में धकेलने का गन्दला प्रयत्न किया है? हाँ! करे भी क्यों नहीं! आखिर कार हैं तो भ्रमचारी ही न?

"भगवान् महावीर ने मांस भक्षण किया।" इस असम्भव, असत्य, अनर्गल, और अप्रामाणिक विषय को संभव, सत्य, स्पष्ट और प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए, दिगम्बर दिमाग़ के भ्रमचारी सुन्दरलाल जी ने, श्वेताम्बरों के सूत्रों से प्रमाणों को संग्रहित करने का तन-तोड़ और मन-जोड़ परिश्रम किया, तथा हाथ पैर भी उन्हों ने काफी फैलाये। अधिक क्या, उन्हों ने आकाश-पाताल के कुलाबे को एक करदेने का प्रयत्न भी भर-सक किया। फिर भी, "खोदा तो पहाड़ और निकाली चूहिया; और वह भी मरी हुई।"— वाली बात ही उन के पल्ले पड़ी। अपने इस जघन्य करतब में वे असफल ही रहे। क्योंकि, जिन शब्दों का अर्थ वे 'माँस' कर रहे हैं, उन्हीं शब्दों का अर्थ श्वेताम्बरीय-सूत्रों मे किसी भी स्थान पर 'मांस' नहीं किया गया है। पाठको! यह तो वैसी बात हुई कि —एक बार दो मित्र किसी सिनेमा को देखने के लिए गये। उन में से एक तो था यथार्थ पंडित, और दूसरा था मूर्खाधिराज। उसके चित्र-पट पर उस दिन कई बातें बड़ी ही हँसी-दिल्लगी की मिलीं। उन मे से कुछेक बातें सभा चातुरी के विनोद से भरी हुई थीं। जिन्हें देख और पढ़कर वह पंडित मित्र, मन-ही मन बडा खुश हो रहा था। वही खुशी कभी-कभी खिल-खिलाहट के रूप मे निकल पड़ती थी और उसी की नकल, यदा-कदा वह मूर्ख मित्र भी कर लिया करता था। दूसरे दिन वेही दोनों मित्र, फिर एक स्थान पर मिले

इतने ही में, एक साहित्य-शास्त्री भी वहाँ आ गये। तब तो "प्रकृति मिले मन मिलत है," वाली कहावत हुई। दोनों में बड़ी देर तक साहित्यक-चर्चा होती रही। अन्त में कल के सिनेमा की बातें निकलीं, उनमें से एक बात थी, चित्र-पट पर लिखी हुई—"रंगीली छबीली मुसखाल जात,"—वाली। तब तो वे साहित्य-मर्मज्ञ लोग खूब ही क़हक़हे मार-मारकर हँसी में लोट-पोट होने लगे। उनकी इस हँसी को देख कर, वे मूर्ख मित्र भी हँस उठे। इतने ही में आगन्तुक साहित्य-मर्मज्ञ ने, उस वाक्य का अर्थ उससे पूछा। पाठको! उसने जो अर्थ बताया; उसी दम, उसकी जड़ बुद्धि का थाह उन्हें लग गया। उसने बताया—

"रँगीली छः बीलियाँ मूसे खाती जाती थीं।"

उसकी इस अनोखी सूझ को सुन कर, वे दोनों पंडित बड़े ही आनन्द में विभोर हो गये। और उस समय वह स्वयं, उनके लिये, एक सिनेमा का काम कर गया। पाठको! देखा न? कैसा अर्थ का अनर्थ हो गया?

उसी मूर्ख के समान, भ्रमचारी जी ने भी भगवान् के लिये माँस आदि के अर्थ कर विद्वत्-जगत् के लिये, वे स्वयं ही उपहास और निन्दा के पात्र बन बैठे। यही बात मिस्टर न्यामत-सिंह जी के औंधे खोपड़े के अनुसार भी हुई। इन दोनों ज्ञान-लव-विदग्ध, अज्ञ-शिरोमणि पुरुषों ने, श्वेताम्बरीय शास्त्रों की ओट ले-ले कर, अपने रचे हुए सभी पोपा-पन्थी ग्रन्थों में उन शब्दों का अर्थ माँस कर-करके भगवान् महावीर के द्वारा माँस

के खाये जाने की पुष्टि करने की चेष्टा की है। हम नहीं समझते, कि उन्होंने ऐसा किस गूढ़ उद्देश्य से किया है। इससे क्या तो हम, और क्या दूसरे, जो माँस-भक्षण के पक्ष में नहीं हैं, सभी यही निष्कर्ष निकालते हैं, कि ऐसी औंधी-सीधी और अंट-सट बातें लिख-लिख कर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूप से माँस-भक्षण के प्रचार और प्रसार का प्रयत्न; ये लोग करना करवाना चाहते हैं। इसके परे, इनका और कोई उच्च ध्येय नहीं जान पड़ता। जो समाज के सम्मुख भगवान् महावीर का एक आदर्श रख कर इस जघन्य कार्य के प्रचार के हिमायती जान पड़ते हैं। यदि तुम्हें माँस-भक्षण का प्रचार ही प्यारा जान पड़ता है, यदि तुम्हें मांस-भक्षण-जैसी घृणित स्वार्थ की पूर्ति करना ही अभीष्ट है, तो क्यों भगवान् महावीर का नाम, बदनाम करते हो? उनकी ओट को छोड़कर, क्यों नहीं मैदान मे कमर कस-कर उतर पड़ते हो? आपके मत की "पद्म-पुराण" ही का आश्रय क्यों नहीं ले लेते, 'जिसमें लिखा है, कि "शिवदास राजा, मनुष्यों तक का माँस खाया करता था।" हमें यह प्रकट करते, महान् खेद होता है, कि आज सुन्दरलाल जी जैसे बन्धुओं ने अपनी गुण-ग्राहकता को आज बिलकुल ही चौपट्ट कर दिया। तभी तो अन्य धर्मों के सत्य अर्थ और वास्तविक घटनाओं को, अनादर और घृणा की दृष्टि से देखने और उन्हें मटिया-मेट कर देने के लिए सिर-तोड परिश्रम, आज ये लोग कर रहे हैं, और दूसरों से करवा रहे हैं। इस के विपरीत, अपने घर की

असत्य, अन्याय-पूर्ण, अप्रामाणिक, और अनर्गल बातों को भी महान् महत्व देकर, उन्हें भी सत्य और प्रामाणिक सिद्ध करने का ढिंढोरा, ये जगत् के सामने पीट रहे हैं। परन्तु भाइयों! ऐसा करना तो अन्याय-पूर्ण, पक्ष-पात से लबालब भरा-पूरा है। अपने हठ-धर्मी-पन से, फिर चाहे, आप इस नंगे सत्य को मानें या न मानें। यह बात दूसरी है। जब आप ही के शास्त्रों में माँस-भक्षण के उल्लेख यदि यत्र-तत्र मिल रहे हैं, तो फिर अहिंसा-धर्म के अनुयायी कहलवाने और बने रहने का अधिकार ही आपको कौनसा रह जाता है? और जब माँस-भक्षण ही आपका मुख्य उद्देश्य है, तो क्यों, "माहणो, माहणो" अर्थात् मत मारो, मत मारो का निरन्तर घोष करते रहनेवाले परम कृपालु, असीम दया-सागर, और करुणा-वरुणालय वीर प्रभु महावीर के नाम को कलंकित आप करते हैं? उन अहिंसा के अवतार प्रभु के नाम पर, ऐसा गदला और भ्रष्ट प्रचार करने की मानोपाली (Monopoly—एकाधिकार-पत्र) आप को लिख किसने दी है? बन्धुओ! अपने ऐसे वाणी के गदलेपन से क्यों कर्मों की पोट को अपने सिर पर लादने की चेष्टा आप कर रहे हो?

जिन शब्दों का अर्थ शाक या वनस्पति विशेष होता है, और उन शब्दों का वही अर्थ श्वेताम्बरीय प्रज्ञापन्न-सूत्र में भी किया गया है। परन्तु हमारे भ्रमचारी जी, अपनी विद्या, बुद्धि और विवेक की शून्यता और ईर्ष्या के वशीभूत होकर, उन्हीं

शब्दों का उलटा अर्थ कर रहे हैं। कुछ भी हो, है यह बात उनके दिल दिमाग के, अधूरेपन तथा दुराग्रह की। विचारशील पाठकों! प्रत्येक सच्छाहित्य में ऐसी दुअर्थी एक नहीं, वरन् अनेकों सुन्दर-सुन्दर रचनाएँ मिलती हैं। भ्रमचारी जी! अपनी अज्ञता के कारण, जैसे माँस का साधारण अर्थ लेकर, भगवान के उपर मांस भक्षण का आरोप लगाते हैं; वैसे ही दो अर्थों वाली सुन्दर रचनाएं भी पाई जाती हैं। जिसका अर्थ भ्रमचारी-जैसे दुराग्रही, प्राणियों की चमड़े की आँखों में भद्दा, नहीं-नहीं, महान बुरा और भद्दा जँच पड़ता है परन्तु स्थल-विशेष भी अपना एक महत्व रखते हैं। जगत, सुन्दरता का उपासक है। फिर, कवि भी अपनी रचना में पद-पद पर, सुन्दरता, और केवल सुन्दरता ही का दर्शन, संसार को करवाना चाहता है। भद्देपन के तो; कभी वह भूल कर भी निकट नहीं फटकता। हाँ, किसी प्रसंग-विशेष पर, जो भी भद्दापन हमें दिख पड़ता है, उसमें तो कवि का और भी कोई गूढ़तम सौंदर्य निहित रहता है। उस भद्देपन मे भी, सुन्दरता के साथ-साथ, मानवता के मन का रंजन करना भी, वह अपना एक प्रधान उद्देश्य मानता है।

भ्रमचारी जी! कवि या लेखक के भद्देपन के उद्देश्य को, अब तो आप भली प्रकार समझे न? कवि या लेखक के इसी सिद्धान्त को, वस्तु-स्थिति और पूर्वा-पर सन्दर्भ देखते हुए भ्रमचारी जी! अन्य स्थलों पर भी काम में लाना चाहिये।

आप, पाव-भर अनाज खाते हैं । कम-सेकम इतना सोचने-समझने की शक्ति तो आप के दिमाग और दिल में रहनी ही चाहिये ।

इन माँसादि शब्दों का अर्थ, 'सद्बोध-प्रदीप', 'दिगम्बर-मत-समीक्षा', और 'सत्यासत्य-मीमाँसा; तथा 'रेवती-दान-समालोचना' आदि अनेकों ग्रन्थों मे, नाना प्रकार के कोपों से सिद्ध कर दिए गए हैं, कि मेढ़िया गॉव की रेवती के सम्बन्ध मे, जो कुकुड़-कवोय-सरीरा, मज्जार कड़ए, और कुक्कड़ मंसए का अर्थ, कबूतर के वर्ण जैसी वनस्पति अर्थात् बिजौरा वनस्पति होता है ।

जिस प्रकार, यमुना-पार के क्षेत्रों मे, 'भुट्टे' नामक एक वनस्पति को 'कूकड़ी' कहते हैं, और अन्यस्थलों मे कूकड़ी को मुर्गी अर्थात् एक पक्षी विशेष के नाम से पुकारा जाता है । भ्रमचारी जी । सोचिए यमुना-पार के प्रान्त में शाकाहारी मनुष्यों के भोजन के सम्बन्ध में, 'कूकड़ी खाने वाले' को 'माँस खाने वाला' कह बैठिये, और देखिये, उस दिन होता क्या है ?......

भ्रमचारी सुन्दरलाल जी एवं न्यामतसिंह जी तथा यमुना पार के अन्य दिगम्बरी लोग, जो कूकडी खाते हैं, तब तो सब-के-सब मांस खाने वाले सिद्ध हुए । क्योंकि कूकड़ी का अर्थ मुर्गी होता है । परन्तु यह बात तो थोथरी बुद्धि के भ्रमचारी सुन्दरलाल जी एव न्यामतसिंह जी-जैसे ही कह सकते हैं । यमुना-पार का कोई भी दिगम्बर भाई कूकड़ी को

मुर्गी कह कर नहीं खाता। वे तो शाकाहारी हैं। भ्रमचारी जी! बस, यही बात तो श्री भगवती जी सूत्र मे आये हुए शब्दों के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए थी। वहाँ भी उनका अर्थ वनस्पति विशेष ही होता है। फिर भी, निर्वंद्य शाकाहारी, सर्वज्ञ, वीर, महा प्रभु, महावीर को भ्रमचारी सुन्दरलाल जी एवं न्यामतसिंह जी जैसे निरेनिरक्षरों ने मांसाहारी सिद्ध करके उन पर कलंक का टीका मढ़ने का भर-सक प्रयत्न किया है। परन्तु इन निरक्षरों के यों भौंकने से, गज-राज वीर प्रभु का परम पावन यश, किसी भी प्रकार दूषित हो नहीं सकता। हाँ, इससे एक बात तो अवश्य हुई है, कि ये लोग, कितने गहरे पानी मे बैठे हैं, इस बात का संसार को ठीक-ठीक पता लग चुका है।

हम यह ऊपर लिख आये हैं, कि किसी भी शब्द का वास्तविक अर्थ उसके पूर्वापर, सम्बन्ध एवं तत्कालीन वस्तु-स्थिति तथा वातावरण ही पर अवलम्बित रहता है। यही बात भगवती जी सूत्र मे आये हुए मांस आदि शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध मे भी है। वहाँ उनका वास्तविक अर्थ, मूल तथा शब्दार्थ के प्रकरण मे, औषधि ही के अर्थ मे किया गया है। मांस नहीं। कई औषधियाँ ऐसी होती हैं, और अनेकों ऐसी हैं भी, जिनके नाम मनुष्य जाति एवं पशु-पक्षियों के नामों के ऊपर रक्खे जाते तथा रक्खे हुए हैं। यदि इन निरक्षरों ने वैद्यक के ग्रन्थों का अवलोकन कभी किया होता, तो अपनी अज्ञान को यूँ

लपलपाने का मौक़ा आज इन्हें कभी हाथ न आता। जो ज्ञानवान् और विचारशील पाठक हैं, वे तो शब्दों के असली भाव को उनके प्रसंग के अनुसार अवश्य ताड़ ही जाते हैं। परन्तु जो मूर्ख और ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध होते हैं, वे अपनी ओछी बुद्धि और छिछोरे ज्ञान से अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों के भावों को समझने के लिये, भाषा-साहित्य का मंथन करना चाहिए। वहाँ एक शब्द का एक अर्थ एक के लिये लागू पड़ता है, तो उसी का दूसरा अर्थ, दूसरे के लिये। ऐसे एक नहीं वरन् अनेकों शब्दों के बीसियों अर्थ, भिन्न-भिन्न स्थलों पर होते हैं। परन्तु प्रकरण और प्रसंग के अनुसार ही, उनका अर्थ लिया जाता है। श्वेताम्बरों का साहित्य जो आज से ढाई हज़ार वर्षों के पहले का है, उसके शब्द भी यथावत् पुराने होने ही चाहिए। उन्हें साँगोंपाँग समझने-समझाने के लिये उन ग्रन्थों का निरन्तर और अथ-से-इति तक पठन-पाठन परमावश्यक है। उनके लिये मनन और चिन्तन की ज़रूरत है। हम यहाँ कुछ ऐसे ही सूत्रोक्त शब्द दिये देते हैं। जिनके अर्थ, व्यवहार के अर्थों से ३६ (छत्तीस) का—बिलकुल विपरीत का—मेल खाते हैं।

सूत्रों मे यत्र-तत्र एक 'कपोत शरीर' शब्द देखने में आता है। वह 'कपोत' नहीं है। यदि सूत्रकारों का मतलब किसी कबूतर से रहा होता, तो केवल 'कपोत शब्द ही का प्रयोग वे करना उचित समझते। वरन् 'कपोत-शरीर' का तो

कभी नहीं। परन्तु ऐसा नहीं। 'शरीर' से यहाँ 'आकार' का बोध कराया गया है। अतः संस्कृत भाषा के नियमानुसार, 'कपोत-शरीर' का अर्थ हुआ, कपोत के समान शरीर या आकार है जिसका, वह 'बिजोरा' या अन्य ऐसा ही कोई फल विशेष। कानपुर की तरफ आज भी एक ऐसा फल आता है, जो दूर से पूरा-पूरा कबूतर ही दीख पड़ता है। ऐसी एक नहीं, दो नहीं; सौ नहीं वरन् अनेकों सहस्र ऐसी औषधियाँ हैं, जिनके नाम वैद्यक शास्त्रों मे मानव-शरीर या पशु-पक्षियों के आकार-प्रकार के ऊपर से रक्खे गये हैं। भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों मे भी ऐसे अनेकों शब्दों की भरमार पाई जाती है। उदाहरणार्थ, नक्षत्रों के नामों मे—अश्विनी (वे तारा, जिनके समूह का आकार-प्रकार घोड़ी के समान बन गया है); कृत्तिका (राक्षसी के आकार-प्रकार का एक तारा समूह), भरणी (योनि के आकार के ताराओं का समूह); रोहिणी (शकट या छकड़े के आकार वाला तारा समूह), विशाखा (तोरण के आकर के तारा-गण), रेवती (पर्यंक—पलँग के आकार-प्रकार वाले ताराओं का झुँड) धनिष्टा (मृदंग की शान शक्ल वाले ताराओं का समूह) आदि। वैद्यक कोषों मे, "शालिग्राम-निघटुभूषण" सबसे बड़ा और बड़ा ही प्रामाणिक कोष माना जाता है। उसमे सैंकड़ों औषधियों के नाम ऐसे लिखे गये हैं; जो जीवधारियों के नामो से मेल खाते हैं। प्रमाण के लिये हम यहाँ अपने पाठकों को उसी की जरा सी बानगी दिखाये देते हैं।

नाम	अर्थ	पृष्ठ
मार्जारि, मृग	कस्तूरी	६
हस्ति	तगर	२८
अंडा	आँवला	१०६
मर्कटी, वानरी	कौंच	३४२
वन-शूकरी	मुंडी	४११
कुकड़ वेल	गुजरात मे एक औषधि	४५६
लाल मुर्गा	हिन्दी भाषा मे एक दवाई	५०१
चतुष्पद	भिंडी	८८६
मांस-फल	तरबूज	९०३

'कपोत' को छोड़ अब 'मार्जार कड़ए कुकड़ मंसए' इसको ले लीजिये। भ्रमचारी जी ने इसका अर्थ किया है, मार्जार का मरा हुआ मुर्गा।" पहले तो यह वाक्य ही अयुक्ति-युक्ति और अव्यावहारिक तथा बड़ा ही अट-पटा-सा जान पड़ता है। फिर यहाँ यह अर्थ किसी भी प्रकार घटित भी नहीं होता। पाठको! यह तो आप जानते ही हैं, कि रेवती एक बनियानी थी। और वह भी जैन धर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट करने वाली एक महिला थी। उसके यहाँ मुर्गे का काम ही क्या हो सकता था? मुर्गों का पालन-पोषण तो माँसाहारियों ही के यहाँ होता है; आगे चलकर, कड़ए शब्द का अर्थ 'मरा हुआ' जो किया गया है, वह तो कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता। हाँ, भ्रमचारी जी स्वयं मुर्दा होंगे। अत. उन्हें मुर्दों ही की बात-चीत

सदैव याद रहती होगी। और वेही वे, उन्हें हर घडी सूझते भी होंगे। भ्रमचारी जी! जरा भ्रम के पर्दे को चीर कर ज्ञान के प्रकाश में आइये! तब आपको ज्ञात पड़ेगा, कि ऊपर के पद का वास्तविक अर्थ—मार्जार नामक वनस्पति के योग से तैयार किया हुआ पेठा पाक—होता है! 'कृत' शब्द संस्कार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रही बात औषधि के विषय में। सो ये औषधियाँ कोषों मे कही ही गई हैं। विश्वास, न हो तो गवाह-दारों को पेश किये देते हैं। लीजिए "पन्नवणा-सूत्र" के प्रथम पद और "शब्द सिन्धु कोष" के पृष्ठ ८१७ पर 'मार्जार' एक औषधि बताई गई है। जिसका उपयोग वैद्यक ग्रन्थों के अनुसार, पित्त ज्वर आदि रोगों मे होता है। यही बात 'कुकुड़' मसए के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। इसके लिये "शालिग्राम निघन्टु भूषण" में कुकुड़ बेल शब्द को देखना चाहिए। ऐसे और भी कई नाम औषधियों के हैं। शब्द सिन्धु नामक कोष के पृष्ठ २७६ और २७७ पर "कुक्कुट, कुक्कुट-मस्तक, कुक्कुटी, कुक्कुट-शिख आदि अनेकों औषधियों के नाम पाये जाते है। हिन्दी भाषा के कोषों मे भी 'लाल मुर्गा' नामक एक औषधि का नाम पाया जाता है। अतएव आपके द्वारा ऊपर के प्रामाणिक अर्थों पर सन्देह करना निरी मूर्खता ही है। अस्तु भ्रमचारी जी नामों को देखकर चौंक न पड़िये। उन नामों के कामों ही से उनके प्रसंग के अनुसार, काम रखिये जरा गहरे बैठिये। तभी सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् के दर्शन पावेंगे। "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।"

भ्रमचारी जी! कूप-मंडूक की भाँति ज़रा घर-ही-घर में चक्कर मत काटिये। आँखें खोल कर बाहर निकलिये और, देखिये कि जगत् में हो क्या रहा है। "अमर-कोष" के पृष्ठ १७३ वें को खोलिये। उस मे 'जूही' का पर्यायवाचक शब्द 'गणिका' आया है। यह देख कर, क्या वेश्याओं को अब भाग जाना चाहिए? यदि आप की समझ और शक्ति से यह बाहर की अनहोनी बात आपने कहीं देखली, तो कदाचित् आप का अस्तित्व भी रह पाएगा, या नहीं? इस मे हमे तो शंका ही है। उसी के पृष्ठ १८१ पर एक औषधि का नाम 'ब्राह्मणी' लिखा है। पाठको! हम ने भी कौनसी बात कह डाली! यदि भ्रमचारी जी को इस बात का कहीं कोई सिर-पैर-मूड गोड़ मिल गया तो, बेचारे हमारे मित्र ब्राह्मणों को, उसी घड़ी से रँडुआ बन कर, काल-यापन करना पडेगा। आगे चल कर, पृष्ठ १६३ पर, गोभी का एक अर्थ 'गो जिह्वा' किया गया है। यदि भ्रमचारी जी की जबान पर यह 'गो जिह्वा।" चढ़ गई तो न जाने, बेचारी गायों की दशा क्या हो जावेगी। उन्हे् अपनी जबान की रक्षा करना तक दूभर जान पड़ेगा। वे तो बेचारी आज यों ही मूक होरही है। और यही कारण है, कि इस गोपाल के कृषी-प्रधान देश मे, पूरी-पूरी सत्तर लाख की तादाद मे, वे यहाँ काटी जाती हैं। फिर पृष्ट १६२ पर 'काकडा सिंगी' का नाम 'ऋषभ, दिखाया गया है। पाठको! काकड़ासिंगी, औषधि के काम मे आती है।

'ऋषभ,' बैल को भी कहते हैं। अत. औपधि के किसी नुस्खे में भ्रमचारी जी को काकड़ासिंगी का कोई पता लग गया तो वे बैलों के पीछे दौड़ पड़ेंगे। तब तो बेचारे बैलों को लेने के देने पड़ जावेंगे। अभी तो वे बेचारे खेतों में जाकर ही कुछ देर के लिए अपना मन बहला लेते हैं। फिर, न जाने भ्रमचारी जी उन्हें किसी खरल में पीसेंगे, या क्या करेंगे। भ्रमचारी जी की बुद्धि का भ्रम ही तो ठहरा। यदि यह बात इन्हें स्मरण न हो आई और कदाचित् पहले तीर्थंकर ऋषभदेव जी ही की याद उन्हें हो आई, तो उन्हीं को, ये साहब मोक्ष से घसीट कर, यहाँ ले आवेंगे। क्योंकि, ऋषभ (काकड़ासिंगी) के बिना, इन का नुस्खा अधूरा ही रह जावेगा प्रथम तीर्थंकर, भगवान् ऋषभदेव जी पर, यह कुदरत की कोई कृपा ही कहना चाहिए, जो भ्रमचारी जी को वैद्यक पढ़ने की कोई चाट न लगी। अन्यथा, उन पर ही क्यों, दुनिया पर, वे क्या-क्या गजब ढाहते! उन की बूढ़ी बुद्धि क्या-क्या बेइंसाफियाँ यहाँ करती! और, औषधियों के नामों के वहम—असमंजस—में पड़ कर भ्रमचारी जी की वह सठियाई हुई बुद्धि, संसार में किसी एक भी जीव-जन्तु को जीता-जागता छोड़ती या नहीं, इस में जरा सन्देह ही था।

पाठको! भगवती जी सूत्र के पाठ की सिद्धि में एक और भी प्रमाण है। वह है, दिगम्बरों के यहाँ "सम्यकत्व-कौमुदी" नामक एक संस्कृत का ग्रन्थ। उसके हिन्दी अनुवादक हैं, पं० तुलसीरामजी दिगम्बर। और, प्रकाशक उस का,

दिगम्बर जैन-साहित्य-प्रसारक कार्यालय, बम्बई है। उसी में 'दान' की महिमा दिखाते हुए पृष्ठ ६५ पर लिखा है, कि "रेवती नामक श्राविका ने सर्वज्ञ प्रभु को औषधि का दान दिया। फलतः उसने तीर्थंकर-नाम-कर्म का उपार्जन किया। इस दानी कथा का विवेचन श्वेताम्बरों के भगवतीजी सूत्र आदि ही मे है। दिगम्बरों के यहाँ, इस बात का कोई नामोनिशान तक कहीं नहीं। वहाँ न तो कोई रेवती श्राविका ही हुई है, और न भगवान् ही उस से कोई औषधि लेते हैं। "पाठको! इस से यह तो सिद्ध हो गया, कि दिगम्बर विद्वानों ने भी भगवती जी सूत्र के उपरोक्त पाठ को वनस्पति-रूप में औषधि ही माना है, माँस तो भूल कर भी नहीं। हम दिगम्बर विद्वानों को इस बात का दावे के साथ चैलेंज देते हैं, कि इस श्वेताम्बरी घटना के अलावा, भगवान् महावीर को औषधि-दान की कोई कथा दिगम्बरों के यहाँ, नाम को भी नही है। दिगम्बरीय सम्यक्त्व कौमुदी का मूल पाठ यों है—

"रेवती श्राविकया श्रीवीरस्यौषधदान दत्तम्। तेनौषधदान फलेन तीर्थंकर नाम कर्मोपार्जितमत एव औषधिदानमपि दातव्यम्।"— [पृष्ठ ६५]

ज़रा "अष्टाभिधान" नामक ग्रन्थ के पन्ने भी पलट जाइये। तब आपको जान पड़ेगा, कि—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
राम	चिरायता	लक्ष्मी	काली मिर्च
लक्ष्मण	प्रसर कटाली नामक एक जड़ी	दास	हल्दी
		पार्वती	देशी हल्दी
सीता	मिश्री	विभीषण	वरकूल मूल
ब्रह्मा	पलाश पापड़ा	रावण	इन्द्रायण तुहरा
विष्णु	पीपल (पिप्पल)	इन्द्रजीत	इन्द्रजौ
शिव	हरड़	महामुनि	अगस्त की छाल
अर्जुन	अर्जुन-छाल	चन्द्र	बावची
पद्मनाभ	एक प्रकारकी लकड़ी	सूर्य	आक-मूल
		रमा	शीतल मिर्च
कृष्णा	गज पीपल		

इन ऊपर वाली सारी वस्तुओं को कूट-छान कर यदि चूर्ण बना लिया जाय तो आप तो अपनी सठियाई हुई बुद्धि से इन नामों के अनुमसार इनका अर्थ करेंगे न ? अरे, अरे! तब तो न जाने आप कौनसा अनर्थ का पहाड़ गिरा देंगे। क्योंकि राम, सीता, लक्ष्मण विभीषण, शिव, पार्वती, ब्रह्मा इन सभी को पीस-पास कर, आप ठिकाने लगा देंगे। वाह भ्रमचारी जी धन्य ! यह है नाम-माहात्म्य का जंजाल। आपने भी तो नाम ही के जंजाल में फँस कर 'समीक्षा' को लिखने का साहस किया है। भ्रमचारी जी ! 'जो जैसा करता है, सो तैसा-तैसा भरता है।"

अस्तु, भ्रमचारी जी ! ऊपर जो औषधिवाचक मनुष्या

के नाम आये हैं, उनका अर्थ मनुष्य जाति के होते हुए भी उन सब का अर्थ वनस्पति विशेष ही करना पड़ेगा। इसी तरह 'कपोत-शरीर एवं 'माजार कड़ए कुकड मंसए' आदि का अर्थ भी शब्दश. न करते हुए, प्रसंग विशेष ही के अनुसार होगा, और वहाँ इनका अर्थ वनस्पति विशेष जैसा किया गया है, या होता है। वही अर्थ युक्ति-युक्त न्यायसत, समुचित, एवं प्रसगानुकूल जान पड़ता है और आपको भी मानना पड़ेगा।

भ्रमचारी जी ! सुनिये। एक बार ऐसा ही प्रसंग आया। एक व्यक्ति भक्तामर-स्तोत्र" का पाठ कर रहा था। उस मे एक स्थल पर 'तच्चारुचूत कलिकानिकरैक हेतु' बोल रहा था। इतने ही मे पड़ौसी सुनने वालों मे से एक को कुछ ताव आ गया। और बोला, "क्यों बे ! तच्चारुचूत, तच्चारुचूत" कह-कह कर गालियाँ क्यों दे रहा है ? 'उत्तर मे पाठ करनेवाले ने कहा, नहीं भाई ! गाली, व्यर्थ ही मे, मैं देने क्यों लगा ? मैं तो भक्तामर-स्तोत्र का पाठ कर रहा हूं। तेरा मेरा कोई लेन-देन ही क्या है, जो गाली लूँ दूँ !

दूसरा व्यक्ति—नहीं भाई ! नहीं ! क्या होता है ? खुल्लम खुल्ला गालियाँ बक रहा है, और फिर ऊपर से भक्त बनने की डींगें हाँक रहा है ?

इन दोनों मे यह वितंडावाद जोर पकड़ ही रहा था, कि इतने ही मे संस्कृतज्ञ एक पंडितजी उधर से होकर आनिकले। इन्हें देखकर वे वहाँ जरा वहाँ ठिठक रहे। और गुल-गपाड़े

का कारण पूछा। कारण ज्ञात होने पर तब तो वे बड़े ही खिल-खिलाने लगे। और बोले "भाईयो! व्यर्थ ही मे क्यों उलझते हो। यहाँ 'तच्चारुचूत" पद का अर्थ 'गाली' तो होता नहीं। यहाँ तो इसका अर्थ 'आम' है। भाईयो! प्रसंग देख कर ही शब्दों का अर्थ लगाया करो। वरना सिर फुटौवल का मौका सदा सिर पर लटकता ही रहता है। पंडितजी के इस फैसले को सुन कर तब तो वह व्यक्ति बड़ा ही झेंप गया। और अपने घर का रास्ता उसने पकड़ा। हाँ एक बात यह भी हुई कि उस ऊपर के पाठ को लोग तब से 'तचारु चाम्र,' भी पढ़न-पढ़ाने लगे।

भ्रमचारी जी! वे पंडित जी भी 'चूत" शब्द का अर्थ यदि 'गाली' ही करके रह जाते तो वह पड़ोसी सुनने वाला व्यक्ति, उस 'तचारु चूत' का पाठ करने वाले की जूतों से पूजा कर देता, या नहीं? मगर नहीं, वे पंडित जी, कोई तुम्हारे समान अनभिज्ञ और भोंदू पन्थी थोड़े ही थे! वे शब्द शास्त्रों के ज्ञाता और रस, ध्वनि, अलंकारादि शास्त्रों के प्रवीण पंडित थे। तभी तो 'चूत' का अर्थ प्रसगानुकूल 'आम' उन्होंने बता कर झगड़े को बात-ही-बात में, सुलझा दिया। परन्तु भ्रमचारी जी! उस स्थल पर कहीं आप पहुँच गये होते, तो मामला सुल-झने के बदले और भी उलझ पड़ता और यदि उस 'चूत' शब्द की ध्वनि-मात्र ही पर आपका मन पिघल पड़ता तब तो आपकी भ्रमित-बुद्धि, आपकी लँगोटी की क्या दशा कर बैठती, इस बात को तो आप-जैसा कोई भुक्त-भोगी जाने!

भ्रमचारी जी ! ऐसे ही पिंगल-शास्त्र (छन्द-शास्त्र) मे भी शब्दों के अर्थ प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। जरा कभी उस पिंगल-शास्त्र के पड़ौस मे तो जाकर फटकिये । अजी निरक्षर जी ! ऊपर-ही-ऊपर से पन्ने पलट लेने मात्र ही के ग्रन्थ-चुम्बन से साहित्य का वास्तविक आनन्द कभी मिल नहीं सकता। वास्तविक आनन्द तो मनन और विचार-पूर्वक ग्रन्थ-मिलन ही से होता है।

जब साधारण शास्त्रों के पठन-पाठन और मनन की शक्ति भ्रमचारी जी मे नहीं तो ये बेचारे ध्वनि-शास्त्र की रीति-नीति को तो समझने ही क्यों और कब लगे ? तब तो इनके आगे उस शास्त्र की कुछ बातें कहना मानो—"अंधे के आगे रोना और हीये की आँखें खोना।"—वाली कहावत का कथन ही होगा। प्रेमी पाठको ! ध्वनिशास्त्र मे प्रत्यक शब्द के तीन-तीन अर्थ होते हैं। एक तो अभिधा शक्ति से। दूसरा लक्षणा शक्ति से। और तीसरा व्यंजना शक्ति से। दिगम्बर भ्रमचारी जी ! इन्हीं तीनों शक्तियों से शब्दों के अर्थों मे आकाश-पाताल का अन्तर आ जाता है।

बस, भ्रमचारी जी ! इसी न्याय और नियम से 'कपोत-शरीर' आदि भगवतीजी सूत्र के पाठो का अर्थ भी केवल अभिधा के आधार पर ही आप न कीजिये। युक्ति, प्रसंग, स्थल और शास्त्रकारों के आशय को लक्षणा तथा व्यंजना-शक्ति के सहारे समझ कर शास्त्रों के पाठो का अर्थ यदि आप लगावेंगे, तो

आपके हीये की आँखें खुल जावेंगी। और आप की जग-जाहिर दिगम्बर बुद्धि की रही-सही कुछ लाज रह जावेगी।

एक स्थल पर एक अनपढ़ आदमी अर्थ करने लगा। कि "सितम्बर जइफान मसकी मकुन" अर्थात ए श्वेताम्बर ! मत कर शक्ति दिगम्बरों पर। क्यों कि वे काफिरों मे से एक हैं। उसे एक विद्वान ने टोंका और कहा भाई यूँ अर्थ लगाना तो गजब ढानेवाला हो गया। वास्तव मे चाहिये तो यह था कि ऐ सितम्बर! अर्थात ऐ जालिम ! मतकर सख्ती कसकीनों पर। जो जालिम होता है वह बिना गुफ्तगू के दोजख मे गिरफ्तार होता है। भ्रमचारीजी ! देखा न केवल शब्दों के अर्थों ही पर उतर पड़ने से अर्थ का कितना घोरतम अनर्थ हो जाता है ?

इस सम्बन्ध मे, अब केवल एकाध बात और कह कर ही हम अपनी लेखनी को जरा विश्राम दे देंगे। भगवती जी सूत्र के उपर्युक्त पाठ का औंधा-सीधा अर्थ लगा कर के, भ्रमचारी जी यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि श्वेताम्बरों के सूत्रों मे माँस खाना उचित और श्रेयस्कर समझा गया है। परन्तु यह उन की भ्रमित बुद्धि का कोरा थोथापन ही है। क्योंकि, श्वेताम्बरों के सूत्र जितने भी हैं, वे सब-के-सब भगवान् के द्वारा कथित है। और उन में यत्र-तत्र प्रसंगानुसार सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने माँस-भक्षण को खूब ही आड़ा-टेढा लिया है। उस की यथेष्ठ अवहेलना और निन्दा उन्हों ने की है। हमारे इस कथन को पढ़ और सुन कर, दिगम्बर बुद्धि के

भ्रमचारी जी की भाँति कोई सज्जन, वीतराग और विगत-काम सर्वज्ञ प्रभु पर, राग, द्वेष और भेदाभेद का दोपारोपण न कर बैठे। अस्तु। यदि भगवान्, स्वयं मास-भोजी होते, तो मास भक्षण को वे इतना कैसे फटकार सकते थे? पाठको! एक मास खाने वाला व्यक्ति किस मुह से मॉस-निषेध का कठोर उपदेश दे सकता है? भगवान्, अहिंसा धर्म के प्रवर्तक और उसके अवतार माने जाते है। तब तो हिंसा का समर्थन उन के लिये लागू हो ही कैसे सकता है? साधारण-से-साधारण और प्रगाढ़ प्रतिभावान् वुद्धि का मनुष्य तक, भगवान् पर माँस खाने का दोपारोपण करने, तथा उन्हें माँस-भोजी बताने की बात तक कहने को उतारू नहीं हो सकता। फिर; भ्रमचारी जी को कैसा भ्रम हो गया है! उनके दिमाग मे कैसी मड़ास हो उठी है! उन्हे कैसा भयंकर सन्निपात रोग होगया है। जो वे सर्वज्ञ और अहिंसा के एक मात्र भगवान् महावीर पर, ऐसे-ऐसे जघन्य दोपों का आरोपण करते हैं। भ्रमचारी जी भगवान् ने रोग की निवृत्ति के लिए 'पेठा' खाया था। माँस तो कभी नहीं। अब हम, वे कुछ सूत्रों के, नमूने आप के सामने लाते हैं, जिन के द्वारा, वीर प्रभु ने माँस-निषेध का एकान्त बहिष्कार किया है। देखिये—

(१) अमऊ मंसा ससीणो।—[सुयगडाग, पृष्ठ ७५६]

अर्थात् सच्चा साधू वही है, और होता है, जो कठिन-से कठिन कष्ट की अवस्था मे भी, न तो कभी माँस ही खाता है,

अपने शास्त्रों का मंथन करके, क्या ही सुन्दर शोध ढूँढ़ निकाली है! कि—"ब्रह्म-हत्या गौ-हत्या करने वाला, तथा चोरी आदि सब पापों का करने वाला पुरुष जिन, भगवान् के चरण-स्पर्शित गन्ध का लेपन करने से तत्काल सब पापों से मुक्त हो जाता है। "पाठको! तब तो जेल और नर्क आदि से मुक्ति पाने का क्या ही अद्भुत और लाजबाब उपाय आप के शास्त्रों में लिखा है! भ्रमचारी जी! तब तो,—"Deeds of dalkness are committed in the dark."—अर्थात् जगत् में जितने भी अन्याय और अत्याचार के काम हैं, सब-के सब अंधेरे ही मे किये जाते हैं, इस न्याय-नियम से, भीतर-ही-भीतर भयंकर पाप नित्यम्प्रति आप करते चले जाइये, और उधर, गधन-लेप करते रहिये। जिस से, स पूर्ण पापों से पल्ला भी आप चुप-चाप छुड़ाते रहें। वाह रे स्वार्थान्धकार के उपासको! धन्य है उसकी बुद्धि को।" अपने स्वार्थ-साधन के हित तुमने क्या-क्या न किया, और क्या-क्या न करोगे, तुम्हीं जानो! क्या ही अपूर्व सूझ है! ज़रा, अपना यह उपाय भारत सरकार को भी तो तुम लोग दिखादो। जिससे भयंकर पाप के करने वाले सब-के-सब अपराधियों को बात-की-बात मे सरकार रिहा कर दिया करे। यूँ, नाना प्रकार के जेल-खानों के शासन तथा भाँति-भाँति के कानूनों की रचना से सरकार बचे।

(६) भ्रमचारी जी! आपके उसी परम पावन (?) शास्त्र के पृष्ठ १४१ वें पर, पर-स्त्रियों को आकर्षित तथा मोहित करने

का तो खूब ही अच्छा मन्त्र बताया है। हमे विश्वास है, कि तब तो आपके नगे गुरु इस अजीब मोहन मन्त्र को काम में लाकर, पर-दाराओं को मोहित तथा आकर्षित करते ही होंगे! क्योंकि यह तो आपके यहाँ आपके परम पावन धर्म-शास्त्र ही की आज्ञा है। अत. प्राण रहते तो आप इस आज्ञा का उल्लंघन कदापि कर ही नहीं सकते। भ्रमचारी जी! भला हो आपके उन शास्त्रकारों और शास्त्र का! भ्रमचारी जी! "बड़े भाग मानुष-तन पावा।" कभी भाग्य ने जोर मारा तो कोई-न-कोई झूठन-झाठन आपको भी एक-न-एक दिन मिल ही जावेगा। उस दिन उस बहती गंगा से हाथ धोने से कदापि न चूकिये। आपके शास्त्रों के अनुसार आपकी पावन करणी (?) से तो, आप पूर्ण परिचित हैं ही। फिर परलोक मे इस गगा-स्नान का सौभाग्य आपको मिले-न-मिले! "धन्य भूमि वन पन्थ पहारा! जहँ-जहँ नाथ! पाँव तुम धारा!!" धन्य है आपके ऐसे भ्रम-भरे ब्रह्मचर्य को! और शत-शत बार धन्य है आपके कंचन और कामिनी के त्यागी, नामधारी ऐसे नग्न गुरुओं को!!

(७) आपके पावन धर्म-शास्त्र (?) पर चढ़े हुए ढोल की पोल को कहाँ तक खोलें। जरा ही आगे और सटकिये। आपके इसी धर्म-रसिक ग्रन्थ के पृष्ठ १४२ पर, स्त्री-पुरुष की एकता मे विद्रोह मचा देने वाला तरीका भी क्या ही मजेदार लिख दिया है। यही नहीं, किसी को रोगी, या दुखी बनाना हो तो इन बातों के भी अनुभूत तथा परिचित योग वहाँ बता दिये गये हैं।

भ्रमचारी जी ! धन्य है आपके ऐसे धर्म-शास्त्र (?) ! जिनमें मानव-समाज को दुखी और रोगी तक बनाने के अनुभूत प्रोयोगों का दिग्दर्शन कराया गया हो । हा हन्त ! ऐसे प्रयोगों की मीमांसा करने वाले जैनतत्व (?) पर थू ! थू !! छिः ! छिः !! एक-दो-दस और सौ नहीं, वरन् हज़ारों बार धिक्कार ! धिक्कार !! धिक्कार !!!

पाठको ! भ्रमचारी जी का पैर अब ज़रा टेढ़ा-मेढ़ा पड़ रहा है। अब येही भ्रमचारी जी, भीख के खातिर भ्रमते-भ्रमते बीकानेर पहुँचते हैं। और वे बीकानेर-निवासी गणपतिलालजी वकील कृत "सन्त-परीक्षा" का उद्धरण देते हैं । मगर न तो उस पुस्तक का लेखक ही स्थानकवासी है और न वह पुस्तक ही स्थानकवासियों को मान्य है। यों तो कई समय-असमय, महावीर के सम्बन्ध में अंट-संट लिखा और लिख देते हैं, तो उनकी सारी जिम्मेदारी, उन्हीं पर तो है । इस नाते, "सन्त-परीक्षा" के उद्धरण का मोल और तोल ही तब क्या ठहरता है, विचारवान् पाठक स्वयं सोच-समझ लें। रही बात अब भ्रमचारी जी की ! जिन्होंने उसे स्थानकवासियों की मान्यता का ग्रन्थ न होते हुए भी जबरन स्थानकवासियों के सिर-कन्धों उसे लाद दिया है । इतना ही करके वे चुप हो रहते तो ठीक था। पर नहीं, उन्होंने तो उसका प्रमाण तक उनके सामने पेश कर दिया है। कुछ भी हो। पर है यह सब अयुक्ति-युक्ति, अप्रामाणिक और अनुमान के सिर-कन्धों पर चढ़ा

हुआ। भ्रमचारी जी की यह कितनी अक्षम्य धृष्टता है ! पाठको ! क्यों नहीं शीघ्र-से-शीघ्र ऐसे भ्रमित वुद्धि के भ्रमचारी जी का फैलाये हुए दूषित वातावरण को शुद्ध बनाने का भरसक प्रयत्न आप करते हैं ? चेतिये, समाज की अचेतन अमरता अब भी कुछ स्वाँसें ले रही है।

एक ही नाम-ठाम के अनेकों व्यक्ति जगत् में हुए, होते हैं, और होते रहेंगे। यह तो कभी सम्भव नहीं, कि यदि इस धराधाम पर किसी व्यक्ति का नाम रेवती हो तो अपने नाम का एकाधिकारनामा (Monopoly) बस उसी ने लिखा लिया हो। हम और आप सभी देखते तथा सुनते हैं, कि एक ही नाम के अनेकों व्यक्ति यहाँ पहले भी थे और आज भी हैं। तब सुन्दरलाल जी ! क्या दुनिया मे एक तुम्हीं सुन्दरलालजी हो ? क्या तुम्हारे सिवाय संसार में सुन्दरलाल जी नाम का अन्य कोई व्यक्ति है ही नहीं ? अरे भ्रमचारी जी ! ऐसी बात न तो है ही, और न कभी हो ही सकती है। परन्तु हाँ, इतना तो हम भी मानने को तैयार हैं, कि यदि एक सुन्दरलाल व्यभिचारी है, तो दूसरा कोई माँसाहारी। फिर तीसरा सुन्दरलाल कोई चोर, कठोर और मुँह ज़ोर है, तो चौथा कोई सुन्दरलाल सड़े हुए दिमाग और दकियानूसी विचार वाला है। यों नाम के एक होने पर भी व्यक्ति सब अलग-अलग हैं। उन के

रूप और काम, तथा गुण और स्वभाव, सभी, भिन्न-भिन्न हैं। अच्छा भ्रमचारी जी ! अब हम यदि थोड़ी देर के लिये तुम्हारे ही सिद्धान्तों को लेकर चलें, तुम दुनिया-भर में, जैसे एक नाम का केवल एक ही व्यक्ति समझते हो, वैसा हम भी मान लें, तब तो तुम्हारे ही वचन, अनुमान और प्रमाण से फिर दुनिया भर में तुम जैसा केवल एक ही सुन्दरलाल सिद्ध हुआ। और इस नाते, तब तो नामी, कामी, व्यभिचारी, मॉस-भक्षक, चोर, डाकू, आदि सभी दुर्गुणों के पिटारे तुम्हीं ठहरे ?। यदि यह बात तुम्हें मान्य है, तब तो "मौनं सम्मति लक्षणम्" के न्याय से उपर्युक्त सारे गुणों (?) के मूर्तिमान् भॉडे तुम हो ही। और कदाचित् यह कथन तुम्हें अस्वीकार है, तो फिर भगवान् महावीर को औषधि दान देनेवाली रेवती जो मेढ़िया गॉव की रहने वाली है, उसकी तुलना केवल नाम के नाते "उपासक-दशाग-सूत्र" के पृष्ट-१६२ पर वर्णित राजगृह की रहनेवाली, मांसाहारिणी और दुराचारिणी रेवती के साथ करना, तुम्हारी हिमालय-जैसी भयंकर भूल नहीं, तो और क्या हो सकता है ? भ्रमचारी जी ! भ्रम को झाड़-बुहार कर परे फैंको। सच्छास्त्रों का मनन और विचार-पूर्वक मन्थन करो। तभी दकियानूसी विचार तुम्हारा दूर हो पावेगा। भाई भ्रमचारी जी ! मेढिया गॉव की रहने वाली रेवती, और राजगृह निवासिनी रेवती, दोनों पृथक्-पृथक् स्त्रियॉ थीं। और दोनों के

आचरण, गुण स्वभाव आदि भी सब भिन्न-भिन्न थे।

भ्रमचारी जी ! कई व्यक्ति संसार मे ऐसे हो सकते हैं, जिनके केवल नाम आपके नंगे गुरुओं से मिलते-जुलते हों परन्तु उनमें से कोई तो मांसाहारी हो और कोई डाकू कोई व्यभिचारी और कोई दुराचारी हो और कोई मदकची तथा कोई गॅजेडी भँगेड़ी हो। तो क्या केवल उनके नाम के नाते ये सब-के-सब आरोप आपके नंगे गुरुओं पर भी लग सकते है ? भ्रमचारी जी! क्या इस बात को मानने के लिये तुम उतारू हो ? यदि नहीं तो फिर मेढिया गॉव की रहने वाली रेवती की तुलना केवल नाम मात्र एक होने से राजगृह की रहनेवाली रेवती के साथ करना तुम्हारी नादानीपन का नमूना नहीं तो और क्या हो सकता है ?

भ्रमचारी जी!(१)उपासक दशांग मे वर्णिता रेवती राजगृह मे रहनेवाले महाशतक जी की स्त्री परतन्त्र है। और (२) भगवती जी सूत्र मे वर्णन की हुई रेवती मेढियाग्राम की रहनेवाली स्त्री स्वतन्त्र अर्थात् एक गृह स्वामिनी है। ये दोनों स्त्रियाँ जो भी नाम से एक ही थीं, पर ग्राम और काम दोनो से पृथक्-पृथक् थीं। उपासक-दशाग-सूत्र मे जिस रेवती का वर्णन आता है, वह एक मॉसाहारिणी, क्रूरा, कुलटा, हिंसा परायणा और अधर्म-रता नारी है। इसके विपरीत जिस रेवती का वर्णन भगवती जी सूत्र मे आता है, वह सर्वज्ञ, भगवान् महावीर के अमल कोमल चरणों मे भक्ति-भाव रखने वाली, सिंहा अणगार को दान देने वाली और एक धर्म-परायणा नारी है। इन मे से

उपासक दशांग सूत्र की रेवती मर करके नर्क गामी बनी है। और भगवती जी सूत्र वाली रेवती अपनी जीवन लीला समाप्त करके स्वर्ग में सिधारी है। प्रमाण के रूप में इन दोनों के विषय में सूत्र पाठ निम्न लिखित है—

"तएणं सा रेवइ गाहावइणी अंतोसत्तरस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्ट दुहट्ट वसट्टा कालामासे कालं किच्चा इमीसं रयणप्पभाए पुढ़वीए लोलुएच्चूए नरए चउरासीई वासह ठिइएसु नेरइएसु नरइएत्ताए उववरणा" उपासक ० ८-२७।

"तएणं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्वसुद्धेणं जाव दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे जहा विजयस्स जाव जम्म जीवियफले रेवती गाहावतिणीए।"

—भगवती० १५—१०।

भ्रमचारी जी! कवोय-सरीरा मार्ज्जार कुक्कड़ मंसिए आदि शब्दों का अर्थ एक नहीं वरन अनेकों बार वनस्पति सिद्ध कर दिया गया है, प्रमाण के लिये देखो—

(१) पं० देवीलाल जी महाराज द्वारा लिखित 'सद्बोध-प्रदीप (२) शतावधानी पं० श्री रत्नचन्द जी महाराज द्वारा, विचरित 'रेवतीदान-समालोचना' (३) पं० मिश्रीलाल जी महाराज कृत 'दिगम्बर-मत समीक्षा' और (४) पं० मुनि श्रीचन्द जी महाराज द्वारा प्रणीत 'सत्यासत्य मीमांसा' आदि कई ग्रन्थों में ऊपर के पदों का अर्थ स्पष्ट रूप से वनस्पति के अर्थ में सिद्ध करके दिखा दिया गया है। यह सब कुछ हो चुकने पर भी मूलचन्द जी एवं

न्यामतसिंहजी सुन्दरलालजी जैसे दक़ियानूसी विचारों के लोगों के द्वारा वीसियों वार हिर-फिर कर अपनी-अपनी रचनाओं में इसी वात का रोना 'अन्धा मुर्गा चक्की के इर्द-गिर्द' वाली कहावत का चरितार्थ करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस पीसे हुए को पीसने मे न जाने इन लोगों को मज़ा कौन सा मिलता हैं। मज़ा? अजी मज़ा मज़ा तो कुछ नहीं, इन के पास दूसरी कोई चर्चा ही नहीं। इन अड़ियल दिमागों के पास और कुछ कहने सुनने की कोई ताकत ही नहीं फिर वे और कुछ कहें तो भी क्या ?

ज़रा आँखें खोल कर देखना सीखो। भ्रमचारी जी ! शास्त्रों मे एक ही नाम के यत्र-तत्र अनेकों व्यक्ति अपनी शुभ तथा अशुभ क्रियाओं के द्वारा स्वर्ग या अपवर्ग और नर्क आदि स्थानों मे अपनी-अपनी करणी के अनुसार गये हैं। केवल नाम साम्य होजाने-मात्र ही से उनकी क्रियाएँ समान कैसे हो सकती हैं ? कदापि नहीं। अजी व्यवहार ज्ञान से शून्य भ्रमचारी जी ! 'अँगुली' इस शब्द के समान होने पर भी, एक ही हाथ की सब अँगुलियाँ तक जब रूप और काम में समान नहीं होतीं, नहीं हो सकतीं और न होना ही युक्ति-युक्ति तथा प्रामाणिकता का प्रमाण हैं, तब दूर के दो व्यक्तियों की वातें तो चलावे ही कौन ? और क्यों ? भ्रमचारी जी। यदि 'कृष्ण' नामक किसी एक भील को जो हिंसा-रत, असत्यवादी, चोर, व्यभिचारी और मद्यपी है, केवल नाम-भर की समानता के कारण, 'श्रीकृष्णचन्द्र' मान कर महत्त्व आप देने लगे, तो लोग आपकी

पीठ और आपके सिर का इतना मैल झड़ावेंगे, कि शीघ्र ही आपकी अक्ल ठिकाने आ जायेगी।

कवोय-शरीर; मज्जार कड़ए, कुक्कड़ मॉस का अर्थ पहले शास्त्र, कोष तथा युक्ति-वाद से हम इसी पुस्तक में कर आये हैं। और स्थानकवासी साधु भी उन्हीं के अनुसार उनका अर्थ करके अपने ज्ञान, अनुभव एवं शास्त्र-मंथन की उत्कर्षता का प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाते हैं। ज्ञान का गँदलापन दिखाना तो दिगम्बर दिमाग एवं दकियानूसी दिल वाले भ्रमचारी सुन्दरलाल जी जैसे ज्ञान-लव-दुर्विदग्धों ही का काम है। 'मज्जार कड़ए' का अर्थ केवल 'बिल्ली' करके आपने अपने भव-भ्रमण को बढ़ाया है। श्वेताम्बरीय शास्त्रों में तो 'मज्जार कड़ए' का अर्थ एक जाति की औषधि विशेष से बनाया हुआ बिजौरा पाक ही है। जिन्हें थोड़ा-बहुत भी भाषा-साहित्य का ज्ञान है, वे बुद्धिमान् पुरुष तो भ्रमचारी जी के कुतर्कों तथा मिथ्याक्षेपों से ओप-प्रोत लेखांशों पर, "शेम ! शेम !!" के नारे लगाये बिना कभी नहीं रह सकते।

थोड़ी देर के लिये यदि भ्रमचारी जी यह पूछें, कि भाई ! ऊपर के पद का यह अर्थ तो आप लोक-लज्जा से वनस्पति विशेष कर रहे हैं। इस पर हमारा उन्हें यह मुँह-तोड़ उत्तर है, कि "तब अनेकों प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कोष, क्यों हमारे ही अनुभव-पूर्ण तथा प्रमाण-युक्त अर्थ के पक्ष में हैं ? पाठको ! हमें याद हो आया, कि संसार में कोई भी मनुष्य अपनी ही

भावना एवं दिल तथा दिमाग के पैमाने से, परायों की भावना तथा दिल और दिमाग़ का तोला-जोखा करता है। बस इसी नियम से लोक-लाज का भय तो भ्रमचारी जी को स्वयं ही होना चाहिए था, जो सचमुच मे अपनी करणी और कथनी से है, तो महान् भ्रमचारी, और प्रसिद्ध अपने को ब्रह्मचारी के नाम से करना-कराना चाहते हैं। धन्य!

स्थानकवासी समाज, अनेकों लोक-प्रसिद्ध कोषों के लोक-मान्य एवं प्रामाणिक प्रमाणों के आधार पर जो वनस्पति विशेष का अर्थ ऊपर वाले पद का करता है, उस से स्थानकवासियों की तो कोई तौहीन नहीं, मगर हाँ, तौहीन दिगम्बर दिमाग की अवश्य ही हो रही है। क्योंकि उनके धर्म रसिक ग्रन्थ, 'त्रिवर्णिकाचार' मे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट विषयों का प्रतिपादन करके, यत्र-तत्र निर्लज्जता एवं अश्लीलता का अखंड ताण्डव-नृत्य किया गया है। विद्वानों के विचार तथा अवलोकन के अर्थ जिनके कुछ उद्धरण तो हम ऊपर उद्धृत कर ही आये हैं। फिर भी भ्रमचारी जी के दिमाग़ की शंकाओं का समाधान न हुआ हो, तो तौहीन वास्तव मे होती किस की है। इस बात का और भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण करने के लिए, हम पुनः उनके उसी परम प्यारे धर्म ग्रन्थ) के निर्लज्जता से परिपूरित कुछेक अवतरणों का उद्धरण किये देते हैं। आशा और विश्वास है, कि हमारे द्वारा निर्णय के बिना दिये ही, इन अवतरणों की सहायता से विचारवान एवं अनुभवशील पाठक इस निर्णय पर अवश्य ही पहुँच

जावेंगे कि वास्तव में तौहीन किस की हो रही है !

(१)देखिये "त्रिवर्णिकाचार" पृष्ठ २३४—

"स्त्रियाँ पेशाब आदि करके हरड़े बेहड़ा और आँवला इस त्रिफला के जल से योनि-जनेनन्द्रिय को धो लें।"

देखा पाठको ! क्या ही अश्लील घृणित तथा निर्लज्जता से परिपूर्ण बातों का वर्णन दिगम्बरों के धर्म-शास्त्रों मे किया गया है। भ्रमचारी जी ! अब कहिये, झेंपिये नहीं, तब तो आपकी इस शास्त्रीय आज्ञा का पालन, आपका स्त्री-समाज अवश्यमेव करता ही होगा !

(२) अब उसी ग्रन्थ के पृष्ठ २३५-२३६ पर लिखित अवतरण का अवलोकन कीजिये—

भुक्तवानुपविष्टस्तु शय्यायामभिसमुम्खः ।
संस्मृत्य परमात्मानं पत्न्या जघे प्रसारयेत् ॥ ४१ ॥
अलोमशा च सद्रुचामनार्द्रां सुमनोहराम् ।
योनिं स्पष्ट्वा जपेन्मन्त्रं पवित्रं पुत्रदायकम् ॥ ४२ ॥

अर्थात् भोजन खा-पी कर शैया मे स्त्री के सम्मुख बैठ जाय, फिर परमात्मा का स्मरण करके पत्नी की जंघा को फैलावे। तब जिस पर रोएँ नहीं हैं, जो सद्रुचि से युक्त है, जिस मे गीलापन नहीं है, जो सुमनोहर है, ऐसी योनि का स्पर्श करके पवित्र पुत्रदायक नीचे के मन्त्र का जाप करे।

भ्रमचारी जी ! कहिए, अब भी कुछ शेष रहा ? आपने तो, बेचारी नंगाई को भी सरे-आम नगा कर दिया। अश्ली-

लता की कमाल करदी । आप के धम-शास्त्रों (?) की ऐसी-वैसी इन घरेलू वातों को देख सुन कर तो, सभ्य मानव-समाज की छाती काँप उठती है; और बेचारी नंगाई तक अपनी रही-सही लाज को बचाने के लिए,इधर-उधर जा-जा कर, पनाह की भीख मांगती फिरती है! भ्रमचारी जी ! यही नहीं। तारीफ ऊपर से यह है, कि अनुवादक महोदय ने, ऊपर के ४२वें नम्बर के श्लोक का अर्थ बिलकुल ही छोड़ दिया है। सचमुच में, अनुवाद करते समय उसके सिर, इस बात के भय का भूत तो अवश्य ही सवार रहा होगा, की अश्लीलता-से-ओत-प्रोत, इस श्लोक का अर्थ कर देने पर, दिगम्बर शास्त्र की तौहीन तो अवश्य ही हो जावेगी। इस बात को छिपाने की उस ने लाख-लाख कोशिशें कीं; मगर आखिरकार वह तौहीन होकर के ही रही। भ्रमचारी जी ! जरा, हीये पर हाथ रख कर, उस मन्त्र का पाठ जरा और पढ़ लीजिये—

ओ३म् ह्रीं क्लीं व्लूँ योनिस्थदेवते मम सत्पुत्रं जनयस्व अ सि आ उ सा स्वाहा।"

भ्रमचारी जी ! आप नंगे दिगम्बर तो हैं ही। नंगों के लिए ये बातें हैं ही किस बाग की जड़ी-बूटी ? क्योंकि, "नगों के आगे नौपत बाजे और दो धड़ाके और लागें। अतः लोका लज्जा के भय से भय-भीत न हूजिये। हाँ, आखिरकार रहते तो आप अभी इसी संसार मे हैं। अतः लज्जा, घृणा और

कुतूहल की त्रिवेणी में डुबकूँ-डुबकूँ तो आप अवश्य कर ही रहे होंगे; लोक-लाज का भय स्वयं ही आप के दिल को भीतर-ही-भीतर खा अवश्य रहा होगा। क्योंकि बात लज्जा आने-जैसी है भी सही। मगर किया ही क्या जाय! अपनी ही जंघा उघाडने से, नंगाई अपनी ही नज़र आती है। इसी नाते, ये सब बातें तो, आपके अपने घर के मत-वाले शास्त्रों की हैं।

अब और ज़रा पास सटकिये! और तब योनि-पूजन के विधान को भी, जो आप के इसी धर्म-रासिक ग्रन्थ के पृष्ठ २३६ पर लिखा है, मनन-पूर्वक पढ़ जाइये। देखिये,—

"इति मंत्रेण गोमयगोमूत्रक्षीरदधिसर्पिःकुशोदकैर्योनिं सम्प्रक्षाल्य श्रीगंधकुंकुमकस्तूरीकाद्यनुलेपनं कुर्यात्।"

अर्थात् मन्त्रोच्चारण कर के गोबर, गो-मूत्र, दूध, दही घी, डाभ, और जल से योनि को प्रक्षालन कर के (धो कर के) उस योनी पर गन्ध,केशर, कस्तूरी, आदि सुगन्धित पदार्थों का लेपन करे।

भ्रमचारी जी! धन्य तेरी साहवी और धन्य तेरा खेल! आप के दिगम्बर धर्म-शास्त्रों ने, योनि-पूजा का, यूँ विधान बता कर के तो, वाम-मार्गियों (कूँड़ा-पन्थियों) के धर्म-शास्त्रों को भी, हर प्रकार से नीचा दिखा दिया! आप के ये पवित्र धर्म-ग्रन्थ तो, उन के धर्म-शास्त्रों से भी, और सैकडों क़दम आगे बढ़ गये। वाहरी पोप-लीला! अब संसार से तेरा अन्त यदि हो जाय, तो इस मे अचरज ही कौन-सा है!

अरे दिगम्बर सुन्दरलाल जी ! ज़रा और आगे बढ़ें। और आँखें खोल कर देखे, कि उसी ग्रन्थ के पृष्ठ २३६ पर, भोग करते समय, किस मंत्र का पठन-पाठन करना चाहिए। लो सुनो !

"ओ३म् ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः। ओ३म् ह्रीं सिद्धेभ्यो नम. ओ३म् ह्रूँ सूरिभ्यो नम'। ओ३म् ह्रौं पाठकेभ्यो नमः। ओ३म् ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः।"

इस उपर्युक्त मन्त्र को पढ़ लेने के बाद, निम्नलिखित मन्त्र पढ़ कर स्त्री का आलिगन करे।—

ओ३म् ह्रीँ श्री जिनप्रसादात् मम सत्पुत्रो भवतु स्वाहा।

"ओष्ठावाकर्पयेदोष्ठै रन्योन्यमवलोकयेत्।
स्तनौ धृत्वा तु पाणिभ्यामन्योन्यं चुम्बयेन्मुखम्॥ ४४॥
बल देहीति मन्त्रेण योन्यां शिश्नं प्रवेशयेत्।
योनेस्तु किंचिदधिकं भवेल्लिंगं बलान्वितम्॥ ४५॥

अर्थात् ओंठ से एक-दूसरे के ओंठ खींचे, और एक-दूसरे का अवलोकन करें। स्तनों को हाथ से पकड़ कर, एक-दूसरे का मुख-चुम्बन करें। "मुझे बल दो।" इस प्रकार के मन्त्र का जप करते हुए, स्त्री की योनि मे······का प्रवेश करावे(!!!) योनि की अपेक्षा लिंग कुछ बलवान् होना परमावश्यक है।

भ्रमचारी जी! अपने मन्दिर या मकान के किसी कोने में एक हिन्दू-विधवा नारि के सामने बैठ कर, अपने दिगम्बरी ग्रन्थ के उपर्युक्त श्लोकों को विचार और मनन-पूर्वक पढ़ते

हुए, उनके अर्थ-गौरव (?) भाव-सौंदर्य (?) और सार-संग्रह पर ठंडे-दिमाग और पाला मारी हुई आँखों से, जरा विचार तो करो! तब आपकी सठियाई हुई बुद्धि की सूझ में आ पावेगा, कि आपके पूर्वज, सोमसेनाचार्य जी, कहाँ तक की निरंकुशता पूर्वक लिख गये हैं। निर्लज्जता? हा हन्त! ऐसी भयंकर और नंगी निर्लज्जता? और-तो-और, जिसके लिये, उस ग्रन्थ के अनुवादक महाशय तक को उन स्थलों का अर्थ लिखने तक के लिये लाज लग गई, और असभ्यता के नाते, जिन्होंने उपर्युक्त श्लोकों का अश्लीलता पूर्ण अर्थ करना छोड़ दिया। भ्रमचारी जी! इससे तुम्हें एक पते की बात तो जरूर ही मिल गई होगी, कि तुम्हारे पूर्वज कैसे थे, जो इस प्रकार का भयंकर तथा समाज को और भी अधिक कामुक बनाने वाले, अश्लीलता पूर्वक बातों का वर्णन एक धार्मिक ग्रन्थ में लिख गये। कहिए निर्लज्जता और भी कुछ बाकी रह गई है क्या? अरे दिगम्बर (?) सुन्दरलाल जी! तब किस मुँह से आगे बढ़-बढ़ कर तुम ऊँचे बोल बोलते हो? परन्तु इसके पहले सच्चे दिल से एक बार इस बात का पता भी बताते जाओ, कि अब तौहीन किनके शास्त्रों की है।

भ्रमचारी जी ने आगे चल कर, भीमसिंह माणिक द्वारा मुद्रित 'कल्प-सूत्र' का प्रमाण पेश किया है। पर है, यह भी उन्हीं की अँधी आँखों का दोष। क्योंकि स्थानकवासी समाज, उक्त ग्रन्थ को अपने प्रमाण-कोटि में भूलकर भी नहीं मानता।

गिनता। वह कल्प-सूत्र, स्थानकवासियों के यहाँ, न तो किसी माननीय ग्रन्थ ही मे गिना गया है, और न उसको मुद्रित कराने वाला, भीमसिंह माणिक ही स्थानकवासी श्रावकों में से कोई है। तब उसके कल्प-सूत्र का प्रमाण देना, भ्रमचारी जी की महान् मूर्खता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, तो और क्या हो सकता है ? यह अनुमान और प्रमाण का तरीका तो ठीक वैसा ही हुआ, जैसा कि दिगम्बर मतावलम्बियों के किसी विषय का विरोध तथा खंडन करने के लिये वाइविल या कुरान अथवा पुराण आदि किसी अन्य मत के ग्रन्थों का प्रमाण देकर, उसका खंडन या विरोध करना हो सकता है। वाह जी भ्रमचारी जी ! "मान-न-मान मैं तेरा मेहमान" बनना-बनाना तो क्या ही खूब आता है। भाई भ्रमचारी जी ! यह तो आप खुद मानेंगे और छाती पर हाथ रख कर कहेंगे भी, कि अन्य मत के ग्रन्थों के प्रमाण दिगम्बरों को अमान्य होंगे, और अवश्य अमान्य होंगे। यही बात आपको दूसरों के लिये समझना चाहिए। अन्यथा लोगों की आँखों मे आपकी बुद्धि का दीवाला आउट् होना नज़र आवेगा। अरे भ्रमचारी जी ! स्थानकवासी समाज द्वारा प्रकाशित और सम्मानित आचारॅग-सूत्र में तो माँस खाने का कहीं उल्लेख तक नहीं है।

मनुष्य अपनी ही भावनाओं का पुतला है। इस नाते हाँ, भ्रमचारी जी ! आपने अपने ही घर की एक बात बड़े भारी मार्के की बता दी। वह यह, कि सम्भवतः आप ही के यहाँ

माँस खाने की परिपाटी प्रचलित होगी। तभी तो "त्रिवर्णिकाचार" नामक आपके धर्म-ग्रन्थ के पृष्ठ २७५ पर "आयाते मुखेऽस्थि खण्डे।" लिखा है। इससे प्रत्यक्ष पाया जाता है, कि माँस खाने के साथ, हड्डी यदि मुख में आ जाय, तो उसे फेंक देना चाहिए। इसी उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ २७२ पर लिखा है, कि-

"मद्यमाँसमधु भुंक्ते अज्ञानात्पलपंचकम्।
उपवासत्रयं चैकभक्तं द्वादशकं तथा॥ ८२॥

अर्थात् बीस तोला मद्य, माँस और मधु यदि खा लिया हो, तो तीन उपवास और एकासने करना चाहिए।

वाह! धन्य! भ्रमचारी जी! धन्य!! "जहँ-जहँ चरण पड़े सन्तन के, तहँ-तहँ बंटा धारा।" भ्रमचारी जी! क्यों मशाल हाथ में लेकर अपने-ही-आप अपना घर परायों को दिखाने की हठ पकड़े बैठे हैं। क्या अब भी छाती फुला-फुला कर, और सिर ऊँचा करके यह कहने का दम भर सकते हो, कि "दिगम्बरी मत के धर्म-ग्रन्थों में माँस खाने के प्रमाण नहीं पाये जाते?" इससे भी बढ़ कर, और भी किसी बड़े प्रमाण की आवश्यकता है? भ्रमचारी जी! चले हैं चक्कर काट-काट, परायों का घर टटोलने; परन्तु अपने ही घर में क्या-क्या बातें घुस बैठी हैं, उनका तो उनको पता तक नहीं! अरे दिगम्बर दिमाग के भ्रमचारी जी! तुम्हारे ही पूर्वजों ने तुम्हारे धर्म में बीस तोले या उस से अधिक माँस मदिरा और मधु-सेवन करने वाले के लिये केवल तीन उपवास और बारह एकासने का दण्ड निर्धारित

किया है। इस से अप्रत्यक्षतः यह तो अवश्य ही सिद्ध हो गया, कि बीस तोले से कम माँस मदिरा और मधु, का सेवन तुम्हारे समाज में कोई भी बिना किसी प्रायश्चित्त के और जब कभी भी चाहे कर सकता है। वब तो एक साधारण मनुष्य के लिये उन्नीस तोले माँस उन्नीस तोले शराब और पाँच-दस तोले मधु बहुत पर्याप्त है। रही अब किसी थैला-भर पेटवाले की बात, सो यदि समय-असमय, उसने बीस-बीस तोले अथवा उससे अधिक माँस मदिरा मधु का सेवन कभी कर भी लिया, तो उस के लिये चिन्ता की बात ही ऐसी कौन सी है! क्योंकि वह अपने थैले-भर मोटे पेट को उस के पहले एक दिन, खूब डाट-डाट कर गले तक भर ले सकता है, फिर एक तो, गरिष्टी खाद्य पदार्थ और दूसरे, गले तक ठूँस-ठूँस कर भरा हुआ थैला-भर का मोटा पेट। अब वेचारे तीन उपवासों की वहाँ बात ही कौन-सी मोटी है! वहाँ तो अगर छः उपवास भी हुए तो भी आसानी से चल सकेगा। अब तो उन्हें फिर कोई परहेज नहीं रहता है। धर्म शास्त्रों का पक्ष, उन्हें इन बातों की ओर और भी अग्रसर कर रहा है। भ्रमचारी जी! तब तो "अब सइयाँ भये कुतवाल डर काहे का!" वाली बन गई। जब आप के शास्त्र ही भ्रम-चारी जी! आप के सिर पर और पक्ष मे हैं। तब हिचकिचाहट परहेज और परेशानी की बात ही कौन-सी रह जाती है। जान पड़ता है, तुम्हारे जैसे की तृप्ति इस से भी न हो पाई। यही कारण है, कि तुम अब श्वेताम्बरीय शास्त्रों के शब्दों के अर्थों

को तोड-मोड़ करके उनके शास्त्रीय अर्थाभास की ओट में अपने यहाँ बीस तोले से अधिक माँस, मदिरा, और मधु के खान-पान की प्रथा एक बार मे चलाना चाहते हो। क्या हम और क्या कोई दूसरा सभी आपके इस आक्षेप का तो यही सीधा सादा-अर्थ तथा भाव समझते हैं। भ्रमचारी जी ! जिस चीज के लिये अपने खुद के पेट मे दुखता हो, उस के लिए गैरों का नाम बदनाम करके, उनकी ओट मे, अपने जघन्य स्वार्थ की पूर्ति करना, कितनी धष्टता का काम है ! कितना बड़ा भारी दम्भ है। और कितना बड़ा नैतिक पतन है !!! पर, याद रखो, भ्रमचारी जी ! यह पापों की पूँजी पचने-वाली नहीं। क्योंकि—

"पापों की पूँजी पचेगी नहीं प्यारे, खाते फिरोगे हकीमों की पूरियाँ। डोलेंगे डाली डुलाते-डुलाते, हाथों होंगी न पूरी अंगुरियाँ।"

आगे चलकर, भ्रमचारी सुन्दरलाल जी ने स्थानकवासी समाज पर, झूठा आक्षेप मढ़ने के मिस, "सूयगडाग सूत्र" की गाथा का उदाहरण उद्धृत किया है। किन्तु अजी भ्रमचारी जी ! तुम पर आभिनिवेषिक मिथ्यात्व का कितना प्रगाढ़ रंग चढ़ा हुआ है। तुम जैसे असत्य-भापियों की महिमा, हम किन शब्दों मे करें, कितनी करें, और कहाँ करें, हमे तो यही समझ नहीं पड़ता। इनके लिए न तो हमारे पास पर्याप्त एवं उपयुक्त शब्द ही हैं, न समय ही है, और न स्थान ही। परन्तु इतना तो हम अवश्य ही कहेंगे, कि तुम्हें इस बात का ज्ञान और भान नहीं,

कि यह गाथा, किनकी ओर से, किसको, और किस अवसर पर कही गई है। कदाचित ज्ञान तो तुम्हें इस बात का अवश्य ही होगा, परन्तु जब निन्दा के हथियार को हाथ मे लेकर, परायों की गर्दनों को नापना ही, तुमने अपने जीवन का एक-मात्र लक्ष्य बना लिया है, तभी तो ये सब घृणित-से-घृणित, और अपने आश्रम-धर्म के विरुद्ध, ये टेढी-मेढ़ी चालें, तुम चल रहे हो, ये निन्दा-स्तुति के जघन्य व्यापार तुम कर रहे हो। इसीलिए हम भी अपने विचारशील पाठकों को यह भली प्रकार दिखा देना चाहते हैं, कि यह गाथा, किसने, कहाँ, और किसके प्रति कही है।

एक दिन, जब आर्द्र-राजकुमार अनार्य देश से चलकर; भगवान महावीर की शरण में दीक्षित होने के लिए आ रहा था, उस समय मार्ग मे, बौद्ध-साधुओं का एक संघ उसे मिला। उस सघ ने उससे पूछा, कि "कुमार, कहाँ जा रहे हो? भावना के शुद्ध रखने पर, यदि कोई व्यक्ति, अपने मृतक पिता का माँस तक खा ले, तब भी वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता। 'हम लोगों का यह सुन्दर सिद्धान्त है।" यूँ कह-सुन कर आर्द्र राज कुमार को उस बौद्ध-साधु-संघ ने अपने संघ मे सम्मलित हो जाने के लिए फुसलाने का प्रयत्न किया।

विज्ञ एवं विचारशील पाठको! सत्यासत्य का आप स्वयं निर्धारण कर लीजियगा कि उपर्युक्त कथन, अर्द्र-राजकुमार को कहा तो गया है, बौद्ध-संघ की ओर से, और दिगम्बर दिमाग़

सुन्दरलाल जी ने इस कथन का आरोप मढ़ दिया, स्थानकवासी समाज के सिर। सुन्दरलाल जी के इन टके सेर के भाव से भी बहुत अधिक सस्ते गपोड़ों को देख सुन कर बड़ा अचरज होता है; खीज होती है; और उनके द्वेषाग्नि से धधकते हुए दिमाग की दयनीय दशा पर हमे बड़ी दया आती है। जो व्यक्ति अनजाने यदि यूँ दिशा भूल जावे, तो उसे समझा-बुझा कर सुपथ पर लाया भी जा सकता है; पर जो बेचारा स्वयं द्वेषाग्नि की प्रचंड लौ मे झुलस रहा हो, जो आत्म-हत्याके लिए जान-बूझ कर हलाहल विष का पान कर रहा हो, उसके उद्धार के हेतु लाख-लाख उपाय भी केवल आकाश-कुसुमवत् ही हैं।

भाई ब्रमचारी जी ! यदि तुम्हारे कथनानुसार ही ऊपर वाले पदों के अर्थ और पदार्थ लगाये जायें, तो फिर तुम्हारे घर के दिगम्बर शास्त्रों ही मे एक नहीं वरन् अनेकों स्थानों पर माँसाहारी मदकची, पापी, पाखन्डी, पुत्री तक के साथ अनाचार करने वाले तथा डाकू लुटेरों के पचासों जीते-जागते उदाहरण मिलेंगे। और तब तो तुम्हारे खुद के निर्धारित न्याय ही के अनुसार तुम माँसभक्षक, मदकची, पाप-परायण, पाखण्डरत, घोरातिघोर आततायी, सिद्ध हो जाओगे।

अरे सुन्दरलाल जी ! डंके की चोट कहते-कहते, कहीं किसी आसमानी-सुलतानी से, वे डंके कभी तुम्हारे ही सर पर, न पड जायँ। तुम भूल के कारण, अपनी पुस्तक मे 'डंके की चोट' लिख गये हो। वास्तव मे लिखना तो तुम्हें चाहिये था,

'नगे की चोट'। क्योंकि; 'नागा, सबसे आगा' होता है। और, 'नंगे से खुदा भी डरता है।' तब भला, उस की बराबरी, कोई, कभी, कर भी तो कैसे सकता है ? क्योंकि, नंगे, झूठ बोलनेवाले, गपोड़शंखी; और बिना बिछौने के इधर-उधर पड़ रहने वाले होते हैं। लाज और शर्म, उन्हें छू तक नहीं जाती। अजी भ्रमचारी जी ! तुम्हारे लिखने की यह ऊबड़ खाबड़ बिना सिर-पैर की और गँदली प्रणाली ही; इन सब बातों का यथेष्ठ पक्का और पक्का प्रमाण है।

सत्य की कसौटी पर कसे हुए स्थानकवासियों के न तो किसी आगम ही मे, साधु-श्रावक को माँस खाने की कोई आज्ञा कभी दी गई है, और न सर्वज्ञ, वीर, एवं अहिंसा के आधार भूत अवतार, भगवान महावीर के कोई भी वास्तविक अनुयायी माँस भक्षण, कभी कर ही सकते हैं। हाँ, उनके वहाँ, धर्म-शास्त्रों मे. माँस-भक्षियों को, नर्क तथा लोक और परलोक मे नाना प्रकार की अधोगति प्राप्त होने के वर्णन तो, स्थान-स्थान पर, यथेष्ठ-रूप मे आये हैं। जिनका प्रसंगानुसार, कुछेक उल्लेख तथा वर्णन, हम ऊपर कर ही चुके हैं। स्थानकवासियों के सूत्रों में दो महावीरों के होने का कहीं भी, कोई उल्लेख तक नही है। केवल दिगम्बर होने के कारण ही भ्रमचारी सुन्दरलाल जी ने भगवान महावीर के सम्बन्ध मे ऐसी-ऐसी अंट-संट और अनर्गल बातें लिख मारी है।

महावीर के सम्बन्ध में, जो-जो प्रश्न, न्यामतसिंह जी

सुन्दरलाल जी ने इस कथन का आरोप मढ़ दिया, स्थानकवासी समाज के सिर। सुन्दरलाल जी के इन टके सेर के भाव से भी बहुत अधिक सस्ते गपोड़ों को देख सुन कर बड़ा अचरज होता है; खीज होती है; और उनके द्वेषाग्नि से धधकते हुए दिमाग़ की दयनीय दशा पर हमे बड़ी दया आती है। जो व्यक्ति अनजाने यदि यूँ दिशा भूल जावे, तो उसे समझा-बुझा कर सुपथ पर लाया भी जा सकता है; पर जो बेचारा स्वयं द्वेषाग्नि की प्रचंड लौ में झुलस रहा हो, जो आत्म-हत्याके लिए जान-बूझ कर हलाहल विष का पान कर रहा हो, उसके उद्धार के हेतु लाख-लाख उपाय भी केवल आकाश-कुसुमवत् ही हैं।

भाई भ्रमचारी जी ! यदि तुम्हारे कथनानुसार ही ऊपर वाले पदों के अर्थ और पदार्थ लगाये जायें, तो फिर तुम्हारे घर के दिगम्बर शास्त्रों ही मे एक नहीं वरन् अनेकों स्थानों पर माँसाहारी मदकची, पापी, पाखन्डी, पुत्री तक के साथ अनाचार करने वाले तथा डाकू लुटेरों के पचासों जीते-जागते उदाहरण मिलेंगे। और तब तो तुम्हारे खुद के निर्धारित न्याय ही के अनुसार तुम माँसभक्षक, मदकची, पाप-परायण, पाखण्डरत, घोरातिघोर आततायी, सिद्ध हो जाओगे।

अरे सुन्दरलाल जी ! डंके की चोट कहते-कहते, कहीं किसी आसमानी-सुलतानी से, वे डंके कभी तुम्हारे ही सर पर, न पड़ जायँ। तुम भूल के कारण, अपनी पुस्तक मे 'डंके की चोट' लिख गये हो। वास्तव में लिखना तो तुम्हें चाहिये था,

'नंगे की चोट'। क्योंकि; 'नागा, सबसे आगा' होता है। और, 'नंगे से खुदा भी डरता है।' तब भला, उस की बराबरी, कोई, कभी, कर भी तो कैसे सकता है ? क्योंकि, नंगे, झूठ बोलनेवाले, गपोड़शंखी; और बिना बिछौने के इधर-उधर पड़ रहने वाले होते हैं। लाज और शर्म, उन्हें छू तक नहीं जाती। अजी भ्रमचारी जी ! तुम्हारे लिखने की यह ऊबड़ खाबड़ बिना सिर-पैर की और गँदली प्रणाली ही; इन सब बातों का यथेष्ठ पक्का और पक्का प्रमाण है।

सत्य की कसौटी पर कसे हुए स्थानकवासियों के न तो किसी आगम ही मे, साधु-श्रावक को माँस खाने की कोई आज्ञा कभी दी गई है, और न सर्वज्ञ, वीर, एवं अहिंसा के आधार भूत अवतार, भगवान महावीर के कोई भी वास्तविक अनुयायी: माँस भक्षण, कभी कर ही सकते हैं। हाँ, उनके यहाँ, धर्म-शास्त्रों मे. माँस-भक्षियों को, नर्क तथा लोक और परलोक मे नाना प्रकार की अधोगति प्राप्त होने के वर्णन तो, स्थान-स्थान पर, यथेष्ठ-रूप में आये हैं। जिनका प्रसंगानुसार, कुछेक उल्लेख तथा वर्णन, हम ऊपर कर ही चुके हैं। स्थानकवासियों के सूत्रों मे दो महावीरों के होने का कहीं भी, कोई उल्लेख तक नही है। केवल दिगम्बर होने के कारण ही भ्रमचारी सुन्दरलाल जी ने भगवान महावीर के सम्बन्ध मे ऐसी-ऐसी अंट-संट और अनर्गल बातें लिख मारी है।

महावीर के सम्बन्ध में, जो-जो प्रश्न, न्यामतसिंह जी

टीकरी-निवासी ने किए हैं, वे-ही-वे प्रश्न भ्रमचारी सुन्दरलाल जी भी कर रहे हैं। नहीं जान पड़ता, यह झूंठन खाने की कुटेव इन्हें लग कहाँ से गई है। जान पड़ता है, इन्हें यह लत अपने नंगे गुरू-घंटालों से, वारिसाना रूप में मिली है। झूंठन खानेवाले को और सूझता ही क्या है? तत्व चर्चा, किस चिड़िया का नाम है? वह जाने ही क्या? बस, झूठन चाटने के मिस, वेही-वेही प्रश्न बीसियों बार करते रहते हैं। जैसे अन्धा चूहा, एक ही चक्की के इर्द-गिर्द जीवन भर घूमता रहता है, वैसे ही भ्रमचारी जी भी बार बार घूम फिर कर, उन्हीं प्रश्नों पर मचल पड़ते हैं। एक-दो और दस नहीं वरन अनेकों बार, उनका उत्तर उन्हें दिया जा चुका है, पर फिर भी, उनकी खोपड़ी में खुजलाहट मची ही हुई है।

जिस दम्पति के रज एवं वीर्य से शरीर का निर्माण हुआ है, वेही दम्पति, उस शरीरस्थ प्राणी के माता-पिता होते हैं। अतः ब्राह्मण एवं ब्राह्मणी, भगवान् महावीर के पिता-माता हुए। परन्तु व्यवहार और जन्म की अपेक्षा से, माता-पिता राजा तथा रानी हैं। इस में बात ऐब की है भी कौनसी? जो बार-बार तुम इसे रबर की भाँति खींचातानी करके बढ़ाते और घटाते हो। जो अनहोनी बात तुम्हारे यहाँ हो गई, उसे तो मजबूरन अछेरा करके तुम भी मानते हो ही। फिर श्वेताम्बरों के यहाँ भी, इसी तरह की अनहोने जैसी कोई एक बात, हुंडासर्पिणी के योग से हो गई, तो इसमें अचरज और मज़ाक की बात ही

कौनसी है ? यह तो वही मिसाल हुई, कि अपना कड़वा होने पर भी लप्-लप् कर जाना। और परायों का जो भी मीठा है, तो भी उसे थू! थू!! थू!!! कर देना है।

अजी भ्रमचारी जी! भगवान् महावीर ब्राह्मणी के गर्भ में थे। और इस बात को इन्द्र उपयोग लगाने पर जान सकता था। मगर बयॉसी दिन के पहले-पहले इस बात पर, उनने कोई उपयोग ही नहीं लगाया। यही कारण था, कि वे इस बात को जान भी न सके। बयॉसी दिन के पश्चात् जब उन्होंने उपयोग लगाया, तो हरिनैगमेषी देव के द्वारा गर्भ का अपहरण करवा दिया। क्योंकि सभी तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय-वंश ही मे हुआ, और होता है।

भगवान् का गर्भ-हरण कैसे हुआ? इस सम्बन्ध मे तो, "भगवान् महावीर के आदर्श जीवन" मे काफी प्रकाश डाल दिया गया है। तब सुन्दरलालजी को चाहिए, कि वे अपने ऊपर वाले प्रश्न का प्रामाणिक और शास्त्र-सम्मत प्रमाण, उसी ग्रन्थ मे ढूँढ लें। यदि पहले भी वे अपनी हीये की आँखों का वास्तविक उपयोग करके, उस आदर्श जीवन का विलोड़न करते-कराते, तो ऐसा प्रश्न करने-कराने का उन्हें कोई अवसर ही न मिला होता। अस्तु!

आगे चलकर भ्रमचारी जी लिखते हैं, कि भगवान् को दो पिताओं का पुत्र कहना अपमानजनक है। अजी भ्रमचारी जी! क्या तुम्हें इतना तक ज्ञान नहीं है, कि सनातन धर्मावलम्बियों के

यहाँ पर तक श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज को माननेवाले, करोड़ों नर नारी अपने इष्टदेव को नन्द महर और वसुदेव-देवकी के पुत्र कहते हैं। यही क्यों अपने घर ही को यदि भ्रमचारी जी टटोल ले लेते, तो उनके दिल की दर्गाह में यह बात उठी तक न होती। देखिये तुम्हारे दिगम्बर समाज के कितने ही घर ऐसे हैं जहाँ दत्तक पुत्रों से उन घरों को आबादी हुई है! बताइये भ्रमचारी जी! तब आप उन्हें दो बाप के बेटा कहेंगें, या नहीं? अवश्यमें आपको यह कहना ही पड़ेगा, कि हाँ। इसमें लज्जा तथा अचरज की बात ही कौनसी है? अजी भ्रमचारी जी! लज्जा नहीं-नहीं महान् लज्जा और अचरज की बात तो इसमें है, कि तुम्हारे दिगम्बरीय -शास्त्र "षड्पाहुड" में "तीर्थंकरों के पिताओं के वीर्य ही नहीं झरता" लिखा हुआ है। इतने पर भी लड़कों के बाप तो वे बन ही जाते हैं। अब जरा निःशंक होकर और छाती पर हाथ रखकर कहने का साहस कीजिये, कि तब आपके दिगम्बरीय उन तीर्थंकरों के वीर्य वाले वे दूसरे बाप, छिपे कहाँ रहते हैं? और वे होते कितने हैं? दो, दस, या सौ? फिर बिना-वीर्य के कोई पुत्र उत्पन्न हो नहीं सकता। यह कुदरती कानून है। इसमें आपकी अटकल और अनुमान बेचारे अन्धे की आँखे और लूले के हाथ हैं। इस कथन की पुष्टी के सम्बन्ध में आइये, हम जरा, आपही के घर की गवाही दे दें। देखिये आपके परम सम्मानास्पद' पण्डित अजितकुमार जी जैन शास्त्री ने जो "सत्यार्थ दर्पण' लिखा है, उसके पृष्ट उन्नीस (२६)को टटोलिये। आशा है,

उसे पढकर आपके दिल का भ्रम अवश्य ही दूर हो जावेगा। और आपकी बुद्धि चर्रा जावेगी। वे लिखते हैं, "मनुष्य शरीर के उपादान-कारण माता-पिता के रज और वीर्य ही होते हैं। अन्य नहीं।" भ्रमचारी जी ! अब तो खुली आपकी आँखें ? क्या, तब उत्तर देंगे कि तुम्हारे दिगम्बरीय समाज मे ये दुधारी; तलवारें तब क्यों और कैसे चला करती हैं ? एक कहता है, कि 'तीर्थंकरों के माता-पिता आहार तो करते हैं, मगर उनके टट्टी पेशाब नहीं होता। तब तो क्यों जी, भ्रमचारी जी ! इस अपेक्षा से तो, उनके शरीरों मे रज और वीर्य भी नहीं हो सकते। और जब रज और वीर्य ही नहीं होते, तो फिर क्या वे बिना वीर्य ही के तीर्थंकरों की उत्पत्ति की सिद्धि का समर्थन नहीं करते ? आप खुद ही बताइये, कि इन दोनों बातों में से सत्य बात कौनसी है ? दिगम्बर दिमाग वाले भ्रमचारी जी! इस बात का उत्तर देने का साहस करेंगे ? या नहीं।

भ्रमचारी जी ! लज्जा तो इस बात में है, कि तुम्हारे यहाँ 'हरिवंश पुराण' के अनुसार तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ जी के पोते राजा दत्त ने अपनी लड़की को ही अपनी स्त्री बनाली। और समय-असमय उसी के साथ अपने अनेकों प्रकार के अनाचार के काम किये। भ्रमचारी जी ! इस बात को तो आप स्वयं भी मानेंगे, कि जब किसी को अपनी स्त्री ही मान लिया और बना लिया, तो आख़िरकार वह 'स्त्री' ही होती है। पर है यह बात बड़े ही भयंकर अनाचार, अत्याचार, और आततायीपन की। एक

ओर तो तीर्थंकरों के पोते और दूसरी ओर ये काले कारनामे !

पाठको ! भ्रमचारी जी और भी सुनना चाहते हैं। देखिये इन्हीं दिगम्बरों की 'पद्म पुराण' के सर्ग बाहरवें में लिखा है, कि—जैन राजा सुमित्र ने अपनी स्वयं की रानी को कहा, कि वह जाकर, उसके एक मित्र की काम-वासना की तृप्ति करे। साथ ही न जाने पर उसे दण्ड देने की धमकी भी दी गई। दिगम्बर भ्रमचारी जी ! है डूब मरने की बात, या और भी कुछ बाक़ी रही ? पर क्यों जी ! लजाने की बात ही ऐसी कौनसी है ! यह तो इन के परम पावन पुराणों का आदेश है ! इसलिए ऐसा करने कराने में इन के यहाँ कोई पाप नहीं होगा। पाप वह होगा, कि किसी को तरसाया जाय; उसके मन की मुरादों को पूरा करने-कराने में सच्ची सहानुभूति न दिखाई जाय, पूरा-पूरा सहयोग न दिया जाय !

भ्रमचारी जी ! फिर सुनिये ! देखिये, आप ही के परम माननीय 'दिगम्बर-आराधना कथा-कोष' मे लिखा है कि 'वारिषेण ने अपनी पहले वाली बत्तीस(३२)पत्नियों को अपने सामने बुलाया। और अपने सामने खड़े हुए एक शिष्य को उन्हें अपने घर में डाल लेने के लिये कहा। परन्तु शिष्य था बड़ा ही बुद्धिमान्। मौका पाते ही वह बच निकला। चलो, अच्छा ही हुआ। नहीं तो एक ओर जहाँ उन औरतों की इज्जत का पानी उतरता, वहाँ दूसरी ओर उस बेचारे शिष्य का फजीता भी कुछ थोड़ा न होता। क्योंकि आखिरकार वह कितना ही हृष्ट-पुष्ट क्यों

न रहा होता, पर था तो वह एक-ही-एक । और वे कितना भी करो, तब भी पूरी-पूरी बत्तीस थीं। रोज़ की खट-पट होती, सौतिया-डाह के कारण सिर-फुटौवल का मौका आता । एक आदमी किस-किस के मन की मुरादों को रोज़-रोज़ पूरी करता फिरता है। क्योंकि—

विधना ने जोड़ी निर्माया। बत्तिस-मन इक कैसे भाया ॥

चलो सब की बात रह गई। और कुदरत के कानून का क़तर-ब्यौंत भी न हुआ।

भ्रमचारी जी ! कहाँ तक दिखावें, और क्या-क्या दिखावें, ऐसी अनेकों बातें हैं, जिनका उल्लेख करते हुए; बेचारी लेखनी तक को लाज लगती है। और सुनने वालों के कान पथरा जाते हैं। हमें तो पढ़-पढ़ कर यही अचरज होता है, कि आपके अक्लमन्द (?) अग्र-गण्य (?) और अथाह ज्ञान-गरिमा वाले (?) आचार्यों ने आँख बन्द कर; ऐसी-ऐसी नंगी बातें, लिखीं तो कैसे ? मगर हाँ अन्त में, नंगे ही तो वे थे। कुछ भी हो, सचमुच में ये सब बातें हैं, महान् लज्जा-जनक, और दिगम्बर सुन्दरलालजी के मुँह को—"मुये न मिटि हैं धोइ"-वाली अमिट कालिख से कलंकित करने वाली।

भ्रमचारी जी ! महावीर स्वामी को, राजा सिद्धार्थ का पुत्र कहने में हमे तो कोई अचरज और आपत्ति नहीं जान पड़ती। उदाहरण के लिये व्यवहार में, श्रीकृष्णचन्द्र महाराज को "नन्द-कुमार", "नन्द-दुलारे", "नन्द-नन्दन", 'यशोदा-

नन्दन" आदि-आदि नामों से लोक-वर्ग पुकारता ही है। इसमें संकोच को स्थान ही कौनसा है ?

दिगम्बरी दिमाग़ के भ्रमचारी जी! साहित्य-शास्त्र का कुछ ज्ञान तो आपको है नहीं। यही कारण है, कि आप बार-बार पीसे हुए को पीसते है, दूसरे आपके औंधे खोपड़े की खपत का ख़ाका पाठकों के सामने यों भी खिंच आता है, कि आप विषय के भाव, प्रसंग और पात्रों को तो, कुछ समझते ही नहीं। बस इसी कारण से, जैसा भी भाड़े से, आप उन्हें देख सुन पाते हैं, ठीक वैसा ही खींचा-तानी करके, अपनी लेखनी के घाट उन्हें आप उतार देते हैं। फिर चाहे उनके प्रसगों, पात्रों एवं भावों का अपघात हो, तो अपनी बला से। इस त्रिपिटक के संघर्ष मे पड़कर, माथा-फोड़ी करे कौन ? अन्यथा; रेवती के गुप्त कार्य का भाव तो बिलकुल ही स्पष्ट था, कि उसके घर की बात, कही तो किसने कही। अर्थात् "कुष्मांड-पाक' और 'बिजौरा-पाक' बनाये, इनकी बातें, हे अणगार! आपसे किसने कहीं ?" इस वाक्य से ,माँस' का अर्थ लगा बैठना, आपके नीरे निरक्षर होने का परिचय-मात्र है। और क्या ?

भ्रमचारी जी! तुम श्रीयुत 'दरबारीलाल जी' को श्वेताम्बर मत के पूरे-पूरे पक्के अनुयायी बतलाते हो। पर यह तो तुम अपने ही पापों को छिपाने की पेचीदा चाल चल रहे हो। क्योंकि, भारत का जैन-जगत् इस बात से भली भाँति परिचित

है, कि दरबारीलाल जी का जन्म और लालन-पालन एक दिगम्बर के घर मे ही हुआ है। यही नहीं; शिक्षा भी उनकी सब-की-सब दिगम्बरों ही के द्वारा और आधार पर हुई है। इस प्रकार जब उनका रोम-रोम दिगम्बरता की घोषणा कर रहा है; तब उन्हें श्वेताम्बर लिख देना; कितनी लम्बी-चौड़ी और बिना ओर-छोर की गप्प है। अपने दिगम्बरी दिमाग के हेड्-क्वार्टर से अपने मुँह रूपी भोंगे के द्वारा गप्पें हाँकते-हाँकते भ्रमचारी जी कभी-कभी तो ऐसी ऊँची अंट-संट; अव्यावहारिक, अप्रामाणिक; वे-सिर-पैर की और बिना ओर-छोर की तान छेड़ते हैं; कि जहाँ महासागर की उत्ताल तरंगें वे दिखाते है, वहाँ कीचड़ का एक कण तक मिलना दुर्लभ हो जाता है। क्यों भ्रमचारी जी ! क्या आपके नंगे गुरुओं ने ऐसा ही नंगा ज्ञान तुम्हें सिखलाया है ? तभी तो वेही दरबारी-लाल जी, जिन्हें तुम श्वेताम्बरी कहते हो; तुम्हारे अल्पज्ञ और नंगे गुरुओं के द्वारा थोड़े ही काल पहले रचित दिगम्बरी पुराणों को देख सुन और पढ़-पढ़ कर तुम्हारे महावीर की सर्वज्ञता ही में शंका करने लगे है। वे आज उन्हें सर्वज्ञ मानते ही नहीं। पुरावा, यदि तुम चाहते हो, तो उनके समय-समय पर निकले हुए लेखों पर; एक विहंगम दृष्टि तुम डाल जाओ। तुम्हें खट से पता लग जायगा। भ्रमचारी जी ! क्या अब भी आप अपने महावीर को सर्वज्ञ न मानेंगे ? क्या, यही (Tug-of-war) (टग् ऑफ वॉर) अर्थात् घोर द्वन्द्व-युद्ध; आपके दिल और

दिमाग के रण-क्षेत्रों में होता रहेगा; कि आप में से एक तो उन्हीं महावीर को 'सर्वज्ञ' घोषित करता रहे। और दूसरा उन्हीं को; प्रति-पक्षी बन कर, 'अल्पज्ञ' कहता रहे। ये दो विपरीत बातें; आप स्वयं के उदाहरणों पर ही से प्रत्यक्ष हो हो रही हैं।

भ्रमचारी जी! दरबारीलाल जी; दिगम्बर थे, और आज भी हैं। उन्हीं ने दिगम्बर पुराणों से; श्वेताम्बरीय शास्त्रों को समीचीन सिद्ध कर दिखाया है। आखिर सत्य तो सत्य ही होता है। लाख-लाख मिथ्यात्व के बादल उसे घेरते रहे, उनको नष्ट-भ्रष्ट कर के एक न एक दिन, वह अपना प्रचण्ड प्रताप दिखला देता ही है। "सत्यमेव जयति नाऽनृतम्"। अर्थात् सत्य की जय होती है और होती है। इसमें शंका का कोई काम ही नहीं। भ्रमचारी जी! ऊट-पटाँग फाँकते समय कदाचित् आप यह भूल जाते हैं, कि असत्य-भाषी के पैर नहीं होते। कुछ ही कदम चलकर वे पकड़ में आ जाते हैं। तब तो उनकी चीं बोल जाती है।

भ्रमचारी जी ने कुछ ही कदम इम से आगे रखकर, बतलाने की चेष्टा की है कि "महावीर स्वामी के तथा उनकी कन्या के विवाह के समय मंडप की रचना आप ही ने की थी। वाह! भ्रमचारी जी यह लिखकर के तो आपने एक सर्वोपरि-भाँड का रेकार्ड ही बीट कर दिया। धन्य आपकी दुर्मद और अचेतन बुद्धि को! भ्रमचारी जी यदि स्वयं ही के घर में कुओं

को घुसा देख लेते तो परायो के झूठे पचड़ों को लेकर वे वेचारे वैठते ही क्यों ? भ्रमचारी जी ! ज़रा दौडो तो हाथी आया, हाथी आया ! देखो आपकी दिगम्बरी "महा-पुराण" में लिखा है न ? कि—छ:लाख मील का हाथी आया था। तो क्या महानुभाव (?) उस समय "महा-पुराण" के लेखक और आप दोनों को आपके समाज की ओर से उस हाथी की लीद उठाने के लिये मुकर्रर किया होगा ? भ्रमचारी जी ! आपकी इस दयनीय दशा को देख-देख कर हमें आपपर तरस आती है ! ज़रा संभालिये तो लीद उठाते उठाते आपकी टाट घिसकर कहीं गंजी तो नहीं हो गई है ? हम तो सद्भावना से पूछते हैं, बुरा माने तो मरजी रावरी ! दो रोटी माँग-मूँग कर अधिक खा लीजिये !

आगे चलिये। आपके दिगम्बर"हरि-वंश-पुराण"मे लिखा है, कि—शिवदास-जैसे दिगम्बरी राजा ने माँस खाया"। इस पर हम आपसे पूछते हैं, कि क्या "हरिवंश पुराण" के लेखक और आप दोनों ने मिलकर माँस परोसने तथा बबर्ची वनकर उसे पकाने का गुरूतर भार अपने सिर-कन्धों लिया था ? यही कारण है, कि लेखक ने उस वर्णन को वड़ी खूबी के साथ हू-बहू दर्शाया है !

आपकी पद्म-पुराण के सर्ग वारहवें मे राजा सुमित्र जो अपनी रानी को अपने मित्र की काम-वासना की तृप्ति करने के लिये कहा, तो क्या उस दिन पद्म-पुराण के लेखक तथा आप दोनों वहाँ मौके पर हाजिर होकर उसकी दलाली मे जुटे हुए थे ? ज़रा यह

तो बताइये कि उस काम में दलाली आपको कितनी मिली? और दलाली के सिवाय गुप्त रिश्वत जो मिली वह?

आगे क़दम बढ़ाते-बढ़ाते भ्रमचारी जी! आप महावीर स्वामी के एक विवाह कर लेने के विरोध में अपनी आवाज़ को बुलन्द बनाते हुए, श्वेताम्बरों पर भूखे कौए की भाँति टूट पड़े हैं। एक ओर तो ये हाल हैं। और दूसरी ओर, श्री शान्तिनाथ जी एवं श्रीकुँथुनाथ जैसे तीर्थंकरों के एक नहीं, दो और दस नहीं, वरन् पूरे-पूरे छियान्वे हज़ार तक औरतों के साथ विवाह करने की बातें भी आप बतला रहे हैं। फिर, भला महावीर स्वामी ने एक विवाह करके ऐसा कौन गुरुतम अपराध आप लोगों का कर लिया, आपकी बपौती के आम के झाड़ उन्होंने काट लिये। जिससे वे आप दिगम्बरों के कोप-भाजन बन रहे हैं। फलतः घूर-घूर कर आप लोग उन पर भूखे गिद्धों की भाँति टूटे पड़ रहे हैं। क्या यह उनके साथ इस जन्म का वैर-शोधन कर रहे हो या जन्म-जन्मान्तरों का? ऊपर से आपकी दुरंगी दुनिया की दक़ियानूसी दलीलों से भी तो आप बाज़ नहीं आरहे हैं। भगवान् महावीर को अविवाहित ठहरा कर, आजीवन कौमारावस्था ही में वे रहे। इस बात के लिए श्री स्थानांग जी सूत्र का प्रमाण आपने पेश किया है। कहिये भ्रमचारी जी! जब आप ही को अपनी ज़बान का विश्वास नहीं, तब दूसरों पर उसकी छाप बैठाने का प्रयत्न आप किस अड़ियल दिमाग़ से करते हैं!

भ्रमचारी जी! जान पड़ता है, तुम्हारे मगज़ में भूसा

घुस बैठा है, जिस से अंट-संट अव्यावहारिक और अप्रासांगिक बातें स्वयं लिख कर, और भाड़े से लिखा-लिखा कर आप अपने नश्वर नाम के पीछे छटपटा रहे हैं। या कदाचित् यह भी एक प्रधान कारण आपकी इन ओछी हरकतों का हो सकता है, कि समय आज-कल बड़ी ही बेकारी का है। इसी से न्यामतसिंहजी और तुम जैसों ने घासलेटी साहित्य की एक दुकान-सी खोल रक्खी है। जिसके जरिये, अपनी स्वयं की लिखी हुई तथा भाड़े के द्वारा लिखाई हुई घासलेटी साहित्य की अंट-संट पुस्तकें अधिक मूल्य में बेचने का एक रोजगार ही तुम लोगों ने खडा कर लिया है। परन्तु यह याद रक्खो कि ऐसी अनर्थकारी और गंदली पुस्तकों का खरीददारों पर अब बिलकुल ही उलटा परिणाम होने लगा है। वे अब अपनी जिम्मेदारियों को समझने लगे हैं। वह समय अब सिर पर ही लटक रहा है, जब कि तुम्हारे छक्के पंजों से, तुम्हारे छल-छद्मों से बाल-बाल परिचित हो जायँ।

ब्रमचारी जी! वासुपूज्य जी, मल्लिनाथ जी, नेमिनाथ जी, पार्श्वनाथ जी और महावीर स्वामी, इन पाँचों तीर्थंकरों ने कुमार अवस्था ही मे दीक्षा ग्रहण की है। स्थानांगजी सूत्र, इस बात का प्रमाण चिल्ला-चिल्ला कर दे रहा है। परन्तु इसी 'कुमार' शब्द को, अपनी कमर मे खोंस कर, आप महावीर स्वामी के अविवाहित रहने और होने की घोषणा कर रहे हैं।

ब्रमचारी जी! अज्ञान के इस प्रगाढ़ पर्दे को अब तो अपनी आँखों पर से उतार फेंको! एक बार, वीर-प्रसविनी,

मरु-भूमि तो जा कर देखो, कि वहाँ आज भी 'कुमार' उस व्यक्ति की संज्ञा है, जिसके पिता या बड़े भाई, जीवित हैं। उनकी मौजूदगी मे, वह चाहे फिर तीन सौ साठ वर्ष का बूढ़ा ही क्यों न बन जावे, और उनके पाँच-सात सन्तानें भी हो जावें, फिर भी वह 'कुमार' ही कहलाता रहेगा। राजपूताने के सारे क्षत्रिय वंश और वैश्यों के सम्पूर्ण कुल, इस बात की राज-घोषणा कर रहे हैं। विद्या, बुद्धि और विज्ञान का यह विकास-काल और उसमे तुम्हारे ये दक़ियानूसी विचार ? अरे! 'कुमार' शब्द तो, घर के बड़े-बूढ़े पुरुषों की जीवित अवस्था मे सन्तान शब्द के अर्थ का वाचक है; 'विवाहित' और 'अविवाहित' आदि अर्थों से इसका सम्बन्ध ही क्या? राजपूताने ही की कौन ले स्राई है, भारत के सभी क्षत्रिय नरेशों तथा सेठ-साहूकारों के घरों में, घर में बाप या बड़े भाइयों की मौजूदगी मे, छोटे पुत्रों को आज भी 'कुमार साहब' 'कुँवर साहब' या 'कँवर साहब' कह कर पुकारते हैं। भ्रमचारी जी, इतने बहरे हैं, कि भारत के इतने बड़े लोक-मत की, आकाश को गुँजा देने वाली आवाज तक, उनके कानों पर, आज तक न पड़ी। पाठको! यूँ एक-दो और सौ नहीं, वरन् 'कल्पित-कथा-समीक्षा' की प्रत्येक बात थोथी, ऊट-पटाँग; और मानव-समाज की गाढ़ी कमाई के श्रम, समय, शक्ति और सम्पत्ति का केवल दुरुपयोग करने वाली है। वे प्रत्येक बातें भ्रमचारी जी के खुद के खोपड़े की उपज की तो हैं नहीं। वे तो आदि-से-इति

तक सब-की-सब, भाडे की और व्याज पर ली हुई उधार सम्पत्ति के मानिन्द होती है। तब आप ही नीचे की कसौटी लगा कर उन्हें परख लीजिये, कि वे सच है या झूठ? जैसे—

अन्तर अँगुली चार को; साँच झूठ मे होइ।
सब माने देखी कही, सुनी न माने कोइ॥

इसलिये भ्रमचारी जी! आप भी अपने कानों ही के भरोसे न रह कर आँखों का आदर करना सीखिये। और उन्हीं की देखी हुई बातों को महत्व दीजिये। परन्तु आप की आँखें यदि कमजोर हो गई हों, तो बात निराली है। तब तो हमारा ही क्या संसार भर के नर-नारियों का चारा ही क्या?

भ्रमचारी जी! स्थानांग सूत्र के इस 'कुमार' शब्द ही से आपका किस जन्म का वैर दावा है, जो उसका अर्थ 'अविवाहित' आप करके, उसकी छीछालेदर कर रहे हैं? महावीर ने एक विवाह कर लिया, तो कर लिया। तुम दिगम्बरों के पेट में, यह बात देख-सुनकर, चूहे कूदते हैं तो क्यों? अरे, उनका विवाह हो जाने से, तुम्हें अड़चन भी पडी तो कौनसी? तुम्हारे किस सिद्धान्त का सिर फूटा? यदि श्वेताम्बर समाज अपने शास्त्रीय मत से, महावीर का विवाह होना सिद्ध करते हैं, तो इससे भी उनके किस मत का प्रति-पादन हुआ? परन्तु यह तो वही मिसाल हुई, कि जो काम श्वेताम्बरों के लिये रुचिकर हों, वे दिगम्बरों के लिये अरुचिकर होना

ही चाहिए। बस यही बात दिगम्बरों के लिये भी हुई। इनकी दिगम्बरी शाखा बहुत काल पीछे से फटी। तब कुछ फेर-फार तो उसमे होना ही चाहिए। क्योंकि बिना फेर-फार के व्यक्तित्व का अस्तित्व ही कैसा? उस फेर-फार मे—(१) नग्न रहना, (२) आगमों का विच्छेद मानना, (३) अपने मन के मूजिब नये-नये ग्रन्थों की रचना करके, उन पर धर्म-शास्त्रों के नाम का आवारण, या मुलम्मा चढ़ाना और (४) महावीर को कुमार अवस्था मे दीक्षित बताकर, उन्हें आजीवन अविवाहित सिद्ध करने के छक्के-पंजे चलाना आदि-आदि बातों का मन-गढ़न्त समावेश करके एक नये मजहब की दीवाल खड़ी कर दी गई है। पाठको! कौन नया और कौन पुराना, इस की एक कसौटी (Touch-stone) है, जो विद्वज्जन-द्वारा सर्वत्र सर्वमान्य और समादरणीय है। तथा जो शास्त्र-सम्मत भी है। वह यह, कि जिस मत के धर्म-शास्त्रों में, किसी पराये मत या मजहब या धर्म की खालें छोली गई हों, उनकी भाँति-भाँति की निन्दा की गई हो, वह मत एक दम पीछे का है, नया है, उन मत या मजहब या धर्मों से, जिनकी निन्दा उसने की है। जैसे कोई अपने परिवार के, या पराये उस पुरुष की भलाई वा बुराई करेगा ही क्या, जो अब होने वाला है, जो भविष्य के गर्भ मे है, जिसको दो आँखों से देखा और सुना तक उसने कभी नहीं। पर हाँ, वह उसकी

भलाई तथा बुराई तो जरूर, और कुछ-न-कुछ अवश्य कर ही सकता है, जो उसके पूर्व हो चुका है। फिर चाहे, वह उस के सामने आज मौजूद हो, या न हो परायों के मुखों से सुन-सुनाकर के भी, दो-चार बुराई-भलाई की बातें, वह उसके लिए कह सकता है। हम चाहे उसे देखें या न देखे इस से कोई वास्ता नहीं; परन्तु परायों की आँखों की मौजूदगी की तो उस मे भी पूरी-पूरी ज़रूरत है ही। इस क़ैद से कोई भी व्यक्ति जो परायों के विषय मे कुछ भी कहना-सुनना चाहता है, कभी छूट नहीं सकता। इन पराई आँखों मे ऐतिहासिक ग्रन्थ धर्म-शास्त्र, पुराने सिक्के. और हथियार प्राचीन इमारतें, और देशों की पुरानी रीति-नीतियाँ आदि शामिल होती हैं। फिर वह धर्म जिसकी निन्दा कोई करता है, यही उसकी प्राचीनता का पुष्ट, पक्का, प्रत्यक्ष, और आधार-भूत प्रमाण है, कि वह आज से पहले अवश्य था तभी तो उसका जिक्र कोई अपने ग्रन्थ में आज करता है। यदि वह आज से पूर्व कभी रहा ही न होता तो निंदक उस का जिक्र अपने द्वारा रचित किसी ग्रन्थ में करता ही क्यों और कैसे बस इसी एक कसौटी को पास मे रख-कर प्रवीण पाठक, पक्ष-पात हीन हो यदि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मजहबों के धर्म-शास्त्रों का विलोडन करेंगे, तो जैसा हमारा अपना ध्रुव विश्वास है, कि वे यत्र-तत्र दिगम्बर धर्म-ग्रन्थों के द्वारा श्वेताम्बर धर्म-ग्रन्थों को कसरत से कोसते पावेंगे। पाठक देखें कि वे एक-दो और दस मुखों से नहीं,

वरन् सैकड़ों अपने कन्दराओं के समान मुखों से श्वेताम्बरी सच्छास्त्रों की भर-पेट निन्दा कर रहे हैं। इस के विपरीत श्वेताम्बरों के शास्त्रों में, दिगम्बरों के लिए एक शब्द तक कहीं आड़ा-टेढ़ा नहीं। अजी, आड़े-ठड़े की कौन कहे, कहीं दिगम्बरों का नाम तक इस में नहीं। क्या, ये सब युक्ति-युक्त और व्यावहारिक प्रमाण, निर्विवाद रूप से यह सिद्ध नहीं करते, कि श्वेताम्बरों के धर्म-शास्त्र दिगम्बर धर्म-शास्त्रों से प्राचीन हैं? क्या भ्रमचारी जी छाती पर हाथ रख कर, इस अकाट्य प्रमाण के विपरीत कोई प्रमाण पेश करने का साहस दिखावेंगे?

फिर भ्रमचारी जी समवायांग जी सूत्र की चर्चा करते हुए वही अपनी दकयानूसी और बपौती की घिस २ सामने रखते हैं, कि 'महावीर बाल-ब्रह्मचारी हैं।' भ्रमचारी जी ने यह सफेद झूठ कहना सीख कहाँ से लिया, नहीं जान पड़ता। समवायांगजी सूत्र में इस बात का कहीं कोई जिक्र तक नहीं। 'प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्?' अर्थात् जो बात प्रत्यक्ष है, उस के लिए, व्यर्थ के लप-लप करने की आवश्यता ही क्या! इस न्याय से यदि महावीर स्वामी बाल-ब्रह्मचारी थे, तो भ्रमचारी जी को समवायांग जी सूत्र के उस मूल पाठको ही को अपने प्रमाण में पेश करके पाठकों के सन्देह को मिटा देना चाहिए था। परन्तु वह पाठ तो यहाँ नदारत है। उस का तो यहाँ और वहाँ कोई आसार तक नहीं। भाई भ्रमचारी जी! हाँ यूँ कहते तो भी काम चल जाता, कि उन्नीस तीर्थंकर तो राज्य-सुख और राज-गादी का उपभोग करके

अर्थात् गृह का आधिपत्य भोग कर दीक्षित हुए । शेष के पाँच तीर्थङ्करों ने बिना राज्य किये अर्थात् बिना गृह का आधिपत्य भोगे ही साधु वेश को अपना लिया। और यही बात भ्रमचारी जी ! आपके दिये हुए ठाणांग-सूत्र के पाठ से भी तो सिद्ध हो रही है। भ्रमचारी जी ! यदि साधारण बुद्धि (Common-sense) से भी जरा काम आपने लिया होता, तो झट-से मालूम हो गया होता, कि राज करना और विवाहित बनना, इन दोनों विपरीत बातों में राशियों के मेल-जोल तक का तो कोई सम्बन्ध नहीं, तब इनके एक होने की बात तो बहुत ही परे की रही।

अतः भ्रमचारी जी ! तब तो इस बात को आप अवश्यमेव मान ही लेंगे कि समवायांगजी सूत्र से भगवान् महावीर को आप ही क्या कोई भी अविवाहित सिद्ध नहीं कर सकते। तब भूल तो हुई और अवश्य हुई। अस्तु भ्रमचारी जी ! श्वेताम्बरों के यहाँ उनके दो-चार और चौदह क्या ! किन्तु पूरे-पूरे बत्तीसों सूत्रों में भी यह बात कहीं नहीं लिखी, कि—"भगवान् महवीर आजन्म बाल-ब्रह्मचारी रहे।" हम जनता से अनुरोध करते हैं, कि वे आज, या कल हमारे बत्तीसों सूत्रों को मनन पूर्वक मंथन करके हमारे कथन की वास्तविकता को सत्य की कसौटी पर कसें। दिगम्बर दिमाग के सुन्दरलाल जी "साँच को आँच नहीं" वाला, देखा हमारा यह दावा ?

भ्रमचारी जी ! जो भाव स्थानाँग जी सूत्र मे कहे गये हैं, वे ही भाव समवायाँग जी सूत्र में भी हैं। परस्पर लड़खड़ाहट

वरन् सैकड़ों अपने कन्दराओं के समान मुखों से श्वेताम्बरी सच्छास्त्रों की भर-पेट निन्दा कर रहे हैं। इस के विपरीत श्वेताम्बरों के शास्त्रों में, दिगम्बरों के लिए एक शब्द तक कहीं आड़ा-टेढ़ा नहीं। अजी, आड़े-टेढ़े की कौन कहे, कहीं दिगम्बरों का नाम तक उस में नहीं। क्या, ये सब युक्ति-युक्त और व्यावहारिक प्रमाण, निर्विवाद रूप से यह सिद्ध नहीं करते, कि श्वेताम्बरों के धर्म-शास्त्र दिगम्बर धर्म-शास्त्रों से प्राचीन हैं? क्या भ्रमचारी जी छाती पर हाथ रख कर, इस अकाट्य प्रमाण के विपरीत कोई प्रमाण पेश करने का साहस दिखावेंगे?

फिर भ्रमचारी जी समवायांग जी सूत्र की चर्चा करते हुए वही अपनी दकयानूसी और वपौती की घिस २ सामने रखते हैं, कि 'महावीर बाल-ब्रह्मचारी हैं।' भ्रमचारी जी ने यह सफेद झूठ कहना सीख कहाँ से लिया, नहीं जान पड़ता। समवायांगजी सूत्र में इस बात का कहीं कोई ज़िक्र तक नहीं। 'प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्?' अर्थात् जो बात प्रत्यक्ष है, उस के लिए, व्यर्थ के लप-लप करने की आवश्यता ही क्या! इस न्याय से यदि महावीरस्वामी बाल-ब्रह्मचारी थे, तो भ्रमचारी जी को समवायांग जी सूत्र के उस मूल पाठको ही को अपने प्रमाण में पेश करके पाठकों के सन्देह को मिटा देना चाहिए था। परन्तु वह पाठ तो यहाँ नदारद है। उस का तो यहाँ और वहाँ कोई आसार तक नहीं। भाई भ्रमचारी जी! हाँ यूँ कहते तो भी काम चल जाता, कि उन्नीस तीर्थंकर तो राज्य-सुख और राज-गादी का उपभोग करके

अर्थात् गृह का आधिपत्य भोग कर दीक्षित हुए। शेष के पाँच तीर्थंकरों ने बिना राज किये अर्थात् बिना गृह का आधिपत्य भोगे ही साधु वेश को अपना लिया। और यही बात भ्रमचारी जी ! आपके दिये हुए ठाणांग-सूत्र के पाठ से भी तो सिद्ध हो रही है। भ्रमचारी जी ! यदि साधारण बुद्धि (Common-sense) से भी जरा काम आपने लिया होता, तो खट-से मालूम हो गया होता, कि राज करना और विवाहित बनना, इन दोनों विपरीत बातों में राशियों के मेल-जोल तक का तो कोई सम्बन्ध नहीं, तब इनके एक होने की बात तो बहुत ही परे की रही।

अतः भ्रमचारी जी ! तब तो इस बात को आप अवश्यमेव मान ही लेंगे कि समवायांगजी सूत्र से भगवान् महावीर को आप ही क्या कोई भी अविवाहित सिद्ध नहीं कर सकते। तब भूल तो हुई और अवश्य हुई। अस्तु भ्रमचारी जी ! श्वेताम्बरों के यहाँ उनके दो-चार और चौदह क्या ! किन्तु पूरे-पूरे बत्तीसों सूत्रों में भी यह बात कहीं नहीं लिखी, कि—"भगवान् महावीर आजन्म बाल-ब्रह्मचारी रहे।" हम जनता से अनुरोध करते हैं, कि वे आज, या कल हमारे बत्तीसों सूत्रों को मनन पूर्वक मंथन करके हमारे कथन की वास्तविकता को सत्य की कसौटी पर कसें ! दिगम्बर दिमाग के सुन्दरलाल जी "साँच को आँच नहीं" वाला, देखा हमारा यह दावा ?

भ्रमचारी जी ! जो भाव स्थानाँग जी सूत्र में कहे गये हैं, वे ही भाव समवायाँग जी सूत्र में भी हैं। परस्पर लड़खड़ाहट

की बात तो उनमें कहीं भी और कोई भी नहीं। पर हाँ, तुम्हारा दिमाग अवश्य जरा सी गति पाकर, थर्रा जाता है। भाई! इस संकट के समय जब नर-जाति के दिमाग की यह दशा है। तो-सहज डरपोकिनी और अबला नारी-जाति की बेचारी बुद्धि का-दम घुट जावे, तो इसमें अचरज की कोई बात ही नहीं! बस बस, समझ गये हम, तभी तो तुम्हारे थर्राये हुए दिल और दिमाग मे से हाथों के द्वारा, अव्यावहारिक, अप्रामाणिक अवि-चार-भरी और ऊबड़-खाबड़ बातें कागज की पीठ पर उतर पड़ती हैं। अरे भ्रमचारी जी! अपनी आँखों पर से पक्षपात के चश्मे को परे उतार कर, यदि तुम देखना सीख जाते; तो जिन आँखों से परायों की सचाइयों को भूले मान कर तुम देख रहे हो, उन्हीं आँखों से सैकड़ों और कई सैकड़ो, अपने ही घर की "अन्धेर नगरी वड्डचुड्ड राजा टके सेर भाजी और टके सेर खाजा" वाली अनहोनी बातें सहज ही में देख पाते। खैर जब आप ही अपनी आदतों से बाज आना महज पाप समझते हैं! तब हम ही क्यों आपके अन्धेरों के भण्डाफोड़ करने की अपनी आदतों को छोड़ें। अच्छा, आपके घर में आपकी आँखों तले कितने और कैसे कैसे गजब के अन्धेर पाये जाते हैं, कुछ नमूने यहाँ पेश किये जाते हैं। मुलाहिजा फर्माइये।

पाठको! दिगम्बरी पद्म-पुराण में लिखा हुआ है; कि—बाली एक मुनि हुए और वे मोक्ष में गये। फिर इन्हीं दिगम्बरों की महा-पुराण के एक पन्ने पर लिखा है, कि — बाली पर-स्त्री-गामी

पुरुष था। और इसीलिये कुमार लक्ष्मण के हाथों वह मारा गया तथा नर्क मे वह गया। धन्य महाराज! एक ही व्यक्ति विशेष के लिये एक ही साथ ऐसी-ऐसी दो दो वजबीजों की ये दुरंगी चालें? अक्सर इन दिगम्बर के यहाँ यह एक आम रिवाज ही बनता जा रहा है, कि एक समय अपनी खुशी के आवेश ये एस व्यक्ति विशेष को मोक्ष तक में भेज देते हैं और दूसरी बार ज्योंही अपनी किसी स्वार्थ-असिद्धि की हानी का जरा ही कोई सन्देश इन्हे मिला, कि उसी क्षण उस वेचारे को नर्क मे ले जा घसीटा है

भ्रमचारी जी! चौवे केरूप मे चोकड़ी भर के गये तो थे छब्बे बनने के लिए, परन्तु दुवे के रूप मे मैदान छोड़कर उलटे पैरों उन्हें आना पड़ा। मकड़ी ने जाल तो बिछाया था औरों को फँसाने के लिए परन्तु फँस वह स्वयं ही गई।

बुद्धिमान पाठकों को इस रहस्य का अनुसन्धान लगाना चाहिए। भ्रमचारी जी! को अपनी अक्ल का अजीर्ण हो गया है। जिसके कारण न जाने ये वैठे ठाले कौन-कौन से अजब-गजब के गप्पे छोड दिया करते हैं। भ्रमचारी जी! आपकी इस मोक्ष से नर्क की काफी लम्बी यात्रा के लिए मुबारकबादी! मुबारकबादी!! मुबारक वादी!!!

पाठको आपके डरने घबराने-जैसी तो कोई बात नहीं। आप अभी हमारे साथ हैं, अभी श्वेताम्बरी समाज श्वेताम्बर धर्मशास्त्र आपके शरीर-रक्षक (Body-Guards) हैं। अतः हिम्मत रखिये। और अभी जरा क्या-क्या और होना है, ध्यान

पूर्वक चुप चाप सुनते और देखते चले जाइये। क्योंकि इस चुप्पी में जो चटक और मौन में जो मजा है, वह कुछ निराला ही है।

दिगम्बर पद्म पुराण में सीता को राजा जनक की पुत्री वता कर, उसे उसकी रानी विदेहा के गर्भ से पैदा हुई, वताया गया है। परन्तु उसी सीता को महापुराण के पृष्ठों में घसीट कर मन्दोदरी के गर्भ से पैदा हुई रावण की पुत्री लिख मारा है।

भ्रमचारीजी! फिर देखो! आपके हरिवंश पुराण में तो राजा वसु के पिता का नाम अभिचन्द और माता का नाम वसुमति घोषित किया गया है, परन्तु आप ही की पद्म-पुराण में, उसी राजा वसु के पिता का नाम ययाति और माता का नाम सुरकान्ता लिख मारा है। भ्रमचारी जी! क्या बतलाने की कृपा करेंगे, कि आप की इन दोनों पुराणों में से, तब कौन-सी तो सच्ची और कौन-सी झूठी है? क्योंकि, जब दोनों के एक ही विषय के विचारों ही मे, छत्तीस ३६ का मेल है, जब एक ही बात के सम्बन्ध मे, दोनों के कथनों में पूर्व और पश्चिम का अन्तर प्रत्यक्ष है, तब दोनों-की-दोनों तो, किसी भी प्रकार सच्ची हो नही सकतीं।

ऐसी एक नहीं अनेक, विना सिर पैर की बातें इन दिगम्बरीय की, इन परम पावन पुराणों मे, यत्र-तत्र भरी पड़ी हैं। अगर समय, शक्ति, और सम्पति ने साथ दिया, और भ्रमचारी जी का सन्निपात फिर भी वैसा ही बना रहा, तो

उन गप्पों की गडबड़-पुराण को, उस के अपने पूरे-पूरे परिचय और पते के साथ, हम अपने प्रवीण पाठकों के सामने रखने की भर-सक चेष्टा करेंगे। एक ही प्रसंग और एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध की, एक-ही बात को, अलग-अलग रंगों की चासनी चढ़ा कर अलग-अलग जायके की साबित करने की बात, स्वयं ही प्रमाण-पत्र दे रही है। महा-पुराण और पद्म-पुराण, इन दोनों पुराणों की बातों मे तो, रात और दिन का अन्तर पाया जाता है।

यदि हमारे जिज्ञासु पाठक, इन दिगम्बर पुराणों की और भी अनमेल बातें देखना, सुनना, और अनुभव करना चाहें; तो वे कृपा करके, देवबन्द-निवासी, दिगम्बर जैन, बाबू सूरजभानु जी वकील द्वारा लिखित—(१) "आदिनाथ-पुराण समीक्षा", (२) हरिवंश-पुराण-समीक्षा," और (३) "पद्म-पुराण-समीक्षा" का अवलोकन अवश्य करें। इन तीनों पुस्तकों के प्रकाशक, "बाबू चन्द्रसेन जैन, वैद्य, इटावा" है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से, जहाँ उन पाठको को सत्यासत्य के निर्णय की जानकारी होगी। वहाँ दूसरी और शताब्दियों के अन्ध-विश्वास का 'पर्दा' भी, उन की आँखों के आगे से, सहज ही मे, हट सकेगा।

अरे अपनी बुद्धि, विवेक की डींग हाँकने वाले दिगम्बर सुन्दरलालजी! झाड़ू हाथ में ले कर पहले अपने ही घर के इस कूड़े-करकट को साफ कर डालो; तब दूसरों की ओर तुम

देखो। अपने घर के पहाड़ जैसे विशालकाय कूड़े-करकट पर तो, निगाह तुम्हारी जाती नहीं; और दूसरों के साफ़ सुथरे घरों पर, कूड़े-करकट की आशंका से घूर-घूर कर तुम देखते हो। यह तुम्हारे दिमाग की कमजोरी है; दिल में दुई की बू का टकसाली प्रमाण है। जान पड़ता है, तुम्हारी मुलाज़मत से अक्ल ने इस्तीफा दे दिया है। अजी! वाद-विवाद भी; समान योग्यता वालों से किया जाय तो फबता है; तुम जैसे के साथ तो; वह किसी भी प्रकार नहीं शोभता। उलटे बेचारी वाणी का फजीता करना है। भाई भ्रमचारी जी! इस प्रकार के भ्रम-कूप में पड़ कर तो जन्म तुम्हारा किसी प्रकार भी न सुधरेगा। यदि इस भ्रम-कूप मे से निकल कर; अपने जीवन और जन्म को सफल करने की उत्कट अभिलाषा ही तुम्हें हो, तो आओ और स्थानकवासी मान्यता के परम पावन शास्त्रों की सच्चे अन्तःकरण से शरण लेकर उनकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करने को, अपना एक-मात्र लक्ष्य बनाओ। क्योंकि—

धर्म जैन स्थानकवासी का; कल्याण करता है।
जो आ जाओ शरण इसकी, तो उत्थान करता है॥

जैन स्थानकवासी धर्म और उसके शास्त्रों मे कोई एक भी स्थल ऐसा नहीं, जिसमे परस्पर-विरोधी कथनों का स्टोरा कहीं हो। यहाँ जिस बात का मंडन या खंडन, जैसा भगवती जी सूत्र में हुआ है, यदि प्रसंग वश वह बात प्रज्ञा-

पन्नाजी सूत्र मे आती है, तो वहां भी उस सम्बन्ध का हू-बहू वैसा ही वर्णन पाया जाता है। यही बात स्थानांग जी सूत्र और समवायाग जी सूत्र के वर्णनों के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। दुई की बू यहाँ नाम को भी नहीं है। दिगम्बरी पुराणों के समान, श्वेताम्बरों के शास्त्रों मे, न तो कहीं कोई गोलमाल ही है, और न कहीं कोई गड़बड़ी ही। हम अपने श्वेताम्बरीय स्थानांग जी सूत्र से, जिस प्रकार भगवान् महावीर को विवाहित्त मानते है, उसी तरह समवायाग जी सूत्र से भी, भगवान् महावीर, विवाहित ही सिद्ध होते है।

अच्छा, भ्रमचारी जी। हम एक बात तुम से पूछते है, नाम के नाते ही सही, आप अपने समाज के सम्मुख जो 'ब्रह्मचारी' कहलाते हैं तब तो 'ब्रह्मचर्य' के पालन करने करवाने के पक्ष का समर्थन आप अवश्य करेंगे। कहो करोगे न? तो फिर सच बतलाओ, कि तुम्हारा दिगम्बर समाज विवाह क्यों करता है? और जब वह विवाह कर ही रहा है, तो फिर आपके ब्रह्मचर्य का समर्थन कहाँ रह जाता है? अरे भ्रमचारी! क्या तुम्हारी बुद्धि को कोई घुन लग गया है? जो न कोई प्रसंग देखते हो और न कोई प्रवाह जैसा भी मन मे आया, वैसा ही लिख मारते हो।

भ्रमचारी जी! अब हम कुमार शब्द के विभिन्न अर्थों की विभिन्न प्रामाणिक कोषों के आधार पर विशद व्याख्या

यहाँ करेंगे।—

(१) कुमार-वास—कुमाराणमराज भावेन वासे।

—[अभिधान राजेन्द्र, पृष्ठ ५८८]

(२) युवराजः कुमारो भर्तृदारकः ॥२४६॥

—[अभिधान चिन्तामणि काड २]

(३) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक. ॥१२॥

—[अमर कोष वर्ग ७]

(४) कुमार—(१) पाँच वर्ष की अवस्था का बालक। (२) पुत्र, बेटा (३) युवराज। (४) कार्तिकेय। (५) सिन्धुनद। (६) तोता; सुग्गा। (७) खरा सोना (८) सनक सनन्दन सनत् और सुजात आदि कई ऋषि, जो सदा बालक ही रहते हैं। (६) युवावस्था या उस से पहले की अवस्था वाला पुरुष। (१०) एक ग्रह जिस का असर बालकों पर होता है।

—[संक्षिप्त-हिन्दी-शब्द-सागर पृष्ठ २४४]

हमारे इन उपरोक्त प्रमाणों से विज्ञ पाठकों ने भली भाँति जान लिया होगा, कि इनके आधार पर स्थानांगजी सूत्र तथा आचारंगजी सूत्र के पाठों में कोई विरोध नहीं आता। भ्रमचारी जी! 'कुमार' शब्द से केवल राज गद्दी का अभाव, यही अर्थ, लेना न्याय-संगत और प्रमाण-युक्त है। परन्तु 'बालब्रह्मचारी पन' तो किसी भी हालत में नहीं। भगवान् के विवाह के इस कथन की सचाई को केवल श्वेताम्बरीय सूत्र ही नहीं वरन् जितने भी निष्पक्ष दिगम्बर विद्वान हुए और आज हैं, सभी एक

स्वर से मानते आये और आज मानते हैं। प्रमाण के लिए, दिगम्बराचार्य; जिनसेनकृत 'हरिवंश-पुराण' भगवान् महावीर का विवाहित होना सिद्ध कर रही है। दूसरा सर्वमान्य और पुष्ट प्रमाण है, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का! विद्वान प्रोफेसर हीरालाल जी जैन ने पीटर्सन की चतुर्थ रिपोर्ट के पृष्ठ १६८ के श्लोक ६ से ८ तक में हरिवंश-पुराण से उद्धृति उपर्युक्त विवाहोत्सव के वर्णन को देख कर इस अंश को उक्त पुराण की किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति मे होने का सन्देह किया था। परन्तु बंगाल-एसियाटिक-सोसाइटी के महान् विशाल एव विद्वज्जन-समादृत पुस्तकालय मे सुरक्षित हरिवंश पुराण की जो क अत्यन्त प्राचीन प्रति रक्खी हुई है, उस मे भगवान् महावीर के विवाहोत्सव के प्रमाण को जब उन्होंने देखा तब उन्हें भी मानना पड़ा।

पाठको! इसी बात को असत्य सिद्ध करने के लिए, 'सत्या-सत्य-मीमासा' के उत्तर मे न्यामतसिंहजी ने अनेकों ग्रन्थकारों केवल नाम-मात्र का उल्लेख-भर कर दिया है। परन्तु उन्हीं न्यामतसिंहजी की नीयत तथा नेकी का यथार्थ प्रमाण तो पाठकों को तभी मिल जाता, जब कि वे उसी बंगाल-एशियाटिक-सोसाइटी के वृहत् पुस्तकालय में रक्खी हुई उसी प्राचीन हरिवंश पुराण की प्रति से उन श्लोकों का उद्धरण करके अपने पाठकों के सामने रख देते, जिनके द्वारा भगवान् महावीर अविवाहित सिद्ध हो सकते थे। जिनसेनाचार्य के समान प्राचीन और

प्रामाणिक ग्रन्थकार तक ने अपने हरिवंश-पुराण में महावीर स्वामी के विवाह का वर्णन कर दिखाया, तब भी समझ में नहीं आता, कि फिर भी किस कारण से ब्रमचारी जी अभी तक भगवान् महावीर को, अविवाहित ही कहते और मानते चले आते हैं ! इस से तो यही सिद्ध होता है, कि भ्रमचारी जी अपने ज्ञान एवं वयोवृद्ध आचार्यों तक के अनुभव-जन्य तथा प्रामाणिक कथनों को भी नहीं मानते हैं । भाई भ्रमचारी जी! जरा ठण्डे दिल से इस बात का विचार करो। साथ ही हम अपने भाइयों से भी यह अपील किये बिना कभी न रहेंगे, वे बंगाल एशियाटिक-सोसाइटी को चाहे कैसी ही ऊल-जलूल समझते रहें, परन्तु वे अपने आचार्यों के अनुभव जन्य कथनों पर तो यूँ अवश्य विश्वास करें।

पाठको क्या अब भी न्यामतसिंह जी अपनी वही फूटी खंजर बजाते रहेंगे और महावीर स्वामी को अविवाहित ही मानते रहेंगे? यार न्यामतसिंह जी! कहिये कैसी भयंकर बलाय आपके गले में आ फँसी !

भ्रमचारी जी !इन दिगम्बर नंगे आचार्यों के वाद में तुम भूल कर भी न लगो ! नहीं तो सत्य को उगलने के मिस न जाने ये क्या-क्या औंधी-सीधी उगल देंगे क्या-क्या कर गुजरेंगे जिससे सूकी लूकी तुम्हें जो रोटियाँ वक्त बे वक्त आज मिल जाती हैं। इनके वाद में लगे रहने पर कल कहीं इनसे भी हाथ धो बैठने का मौका तुम्हारे लिए न आजावे। भाई ! समय

रहते चेत पड़ने ही मे बुद्धिमानी है ।

भगवान् के विवाहित होने के सम्बन्ध मे हमे एक बात और भी याद आ गई । श्री चन्द्रराज भंडारी, विशारद भानपुरा (होलकर स्टेट) ने भी प्रभु महावीर का जीवन चरित्र लिखा है। उन्होंने भी अपनी पुस्तक के पृष्ट १२४ पर भगवान् महावीर का विवाह सिद्ध किया है। और अपने उस कथन को सत्य साबित करने के लिये एक दिगम्बर विद्वान् की लम्बी-चौडी राय भी वहाँ उन्होंने दर्शाई है । विस्तार-भय और स्थान संकुचन के कारण हम अपने पाठकों के लिए उसे पूरी-पूरी तो उद्धृत नहीं कर सकते, परन्तु संक्षिप्त करके हम उसे दिये बिना भी नहीं रह सकते। उसी के साथ-साथ इस विवाह-सम्बन्धी चर्चा को भी अब हम यहीं समाप्त कर देने की चेष्टा करेंगे।

"दिगम्बर धर्म-शास्त्र इस बात को स्वीकार नहीं करते, कि भगवान् महावीर ने विवाह किया था। वे अक्सर उन्हे बाल-ब्रह्मचारी ही मानते हैं। परन्तु इस बात की पुष्टि के लिए उनके पास आगमसिद्ध प्रमाण कोई नाम को भी नहीं । हमारे चौबीस तीर्थंकरों मे से चाहे जिस को आप देखें, केवल एक या दो को छोड़कर बाकी सभी को आप गृहस्थ ही पावेंगे। ऋषभनाथ स्वामी के तो कई पुत्र थे। इसके विपरीत हमारे पास इस बात का भी कोई सबल प्रमाण नहीं, कि जिसके द्वारा हम भगवान महावीर को बाल ब्रह्मचारी सिद्ध कर सकें। भगवान् महावीर के जीवन

सम्बन्धी ग्रन्थों में कल्पसूत्र (श्वेताम्बरी) अपेक्षा कृत अधिक पुराना है। अतः उसके कथन का प्रमाण-भूत होना अधिक सम्भव है। इसके सिवाय और भी एक ऐसा कारण है, जिससे उनके विवाह का होना सम्भवनीय हो सकता है।

अरे भ्रमचारी जी ! समर-वीर राजा कहाँ का और किस कुल का था ? " यह तो तुम्हारा बडा ही मामूली-सा प्रश्न है। ज़रा कान खोलकर सुनो, वह इसी भारतवर्ष के उत्तर दिशा मे स्थित 'बसन्तपुर' नामक नगर का निवासी और क्षत्रिय-कुल सम्भूत इक्ष्वाकु वंशीय राज-घराने का पुरुष था।

भ्रमचारी जी ! वर के पॉव पूजने का रिवाज तो सम्भवतः तुम्हारे ही देश मे है। यह सर्व-देश-व्यापी रिवाज नहीं। फिर अन्य तीर्थंकरों के कन्याएँ हुई होंगी ही। क्योंकि जिन तीर्थंकरों के छियानवे २ हजार रानियाँ रहती थीं। क्या उन सभी की कोख से समय-असमय लड़के-ही-लड़के पैदा हुए होंगे ? लड़की कोई एक भी नहीं ? भाई भ्रमचारी जी ! कुदरत के कानून से तो यह बात एक-दम अशक्य और असम्भव ही सिद्ध होती है। अब एक दूसरी सूझ की बात रह गई। वह आपके पुरखाओं की है। कदाचित् उन दिनों उन सभी रानियों के कोख की जॉइण्ट हैड आफिस (Joint Head office) के, आपके पुरखा लोग, 'एक-एक करके (Turn-by-turn) मुंशीगिरी के पद पर रहे हों। जिन्होंने तीर्थंकरों की सन्तानों का राई-राई का लेखा जोखा रक्खा हो। यदि यह भी नहीं तो स्वयं

ही ने अपनी आँखों पर, उल्लू की आँखों का चश्मा चढ़ा

लिया हो, जिससे लड़के और लड़कियों के या तो असली रूप का कोई पता ही आपको न रहा हो, अथवा 'सभी धान बाईस पसेरी' के न्याय से लड़के और लड़की दोनों को आपने अपने भ्रम भरे खोपड़े से एक ही समझ लिया हो।

भ्रमचारी जी! अतः मानना पड़ेगा, कि उनके लड़कियाँ भी हुई होंगी और हुई थीं। तब उनके वरों के साथ जैसा भी बर्ताव एक श्वसुर को अपने दामाद के साथ, लोकाचार के नाते करना चाहिए था, उन तर्थंकरों ने भी अवश्य किया ही होगा। वही बात भगवान् महावीर ने भी अपने दामाद जमाली के साथ की थी। और लोक की मर्यादा स्थापित करने वाले, सर्वज्ञ प्रभु को लोक रंजन के लिये वैसा करना उचित भी तो था। क्योंकि जितने भी महापुरुष होते हैं। सब-के-सब किसी-न-किसी रूप मे लोक संरक्षक ही होते हैं। अतः वीर महावीर ने,—'महाजनो येन गतः स पन्थ।'—को अपने ध्यान में रख कर यदि अपने दामाद जमाली के पैर पूजे भी, तो इस मे अन होनी और अचरज की बात उन्होंने की ही कौनसी? पर हाँ, अचरज तो इस बात मे हो सकता है, कि जो 'भ्रम' आपकी जन्म-घुट्टी के साथ आपको पिलाया गया है, उसका असर ससार की प्रत्येक बात में आपके दिमाग और दिल पर होना ही चाहिए।

आगे चलकर, भ्रमचारी जी ने लिखा है, कि भगवान् महावीर स्वामी ने तीन अरब, इक्यासी करोड़ और अस्सी लाख

मुहरों का दान, स्वर्गवासी देवों के लिये किया।

आगे चलकर, भ्रमचारी जी ने लिखा है, कि "भगवान् महावीर के आदर्श-जीवन" के पृष्ठ ११६ पर, भगवान् ने स्वर्ग-वासी देवों के लिये दान दिया। अजी, ये सोलह आना सफेद झूठ के, टके सेर की दर के, गप्पे, आप लाये कहाँ से ? आपने तो, संसार के महान् से-महान् गपोडियों तक को मात कर दिखाया ! क्या कहा ? भगवान् और उनके द्वारा केवल स्वर्ग के देवों को दान ? भाई सुन्दरलाल जी ! कोई भी निष्पक्ष-पात पाठक, तुम्हारे इस कथन का तो केवल यही अर्थ निकाल सकेगा, कि उस दिन के याचकों मे से एक तुम भी अवश्य रहे होगे। नहीं तो इतने दूर के पते की सही-सही बात तुम कहते कैसे ? पर आपका नाम उन याचकों मे रहा होगा, जो अन्धे, लंगड़े, लूले, काने, खोड़े, गूँगे, बहिरे और अपंग आदि रहे होंगे। और जिनकी पहुँच, उन दान-दाता तक किसी भी प्रकार न रही होगी। तभी तो आप ऐसा स्वयं कह रहे हैं, कि दान, देवों को (बड़ों को, शक्ति और स्फूर्ति में बड़ों को) मिला। यदि आप भी सशक्त होते, कुछ-न-कुछ तो आपके हाथ भी अवश्य ही लग गया होता। यूँ निराश होकर तो, कभी भी वहाँ से आप को खाली हाथों लौटने का मौक़ा न मिलता। तब तो यह स्वभाविक ही था, कि आपकी ज़बान यूँ कभी ऊल-जलूल भी उस सम्बन्ध में न फाँकती। भ्रमचारी जी, क्यों अब तो आप समझ गये न ? कि जो भी कोई,

दान का वास्तविक अधिकारी, प्रत्येक याचक उस समय वहाँ पहुँचा, अपनी योग्यता, आवश्यकता एवं शक्ति के अनुकूल दान की रकम लेकर, वह वहाँ से लौटा। इन याचकों में, फिर चाहे कोई स्त्री रही हो या बालक, जवान रहा हो या वृद्धा; देव रहा हो या दानव। जिस-जिसके भाग्य में जितना-जितना बदा था, वह वहाँ से उतना-उतना लाया। हाँ, कोई कोरे हाथ लौटे होंगे, तो वे आप-ही सरीखे होंगे।

अजी सुन्दरलाल जी! सस्कृति और जीवन मे सुधार, तथा उन्नति, एक-मात्र विद्या ही से हो पाती है। क्योंकि 'विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं' और 'विद्या ददाति विनयं।' तब तो 'फलेन परिचीयते' से तुम तो महान् निरक्षर ही जान पड़ते हो। सस्कृत भाषा तो कोसों परे रही, अरे, तुम्हारी मातृ-भाषा हिन्दी तक का ज्ञान, तुम्हारा अधूरा है। कदाचित् इस बात का कोई प्रमाण-पत्र तुम हम से माँगो, तो लो, हम तुम्हारे ही शब्दों में, एक प्रमाण-पत्र यहाँ पेश किये देते हैं। तुम ने 'सिद्ध-सेन' गणि की टीका का भावार्थ लिखा है। उसी का एक अंश, हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं। जिससे तुम्हारी कुण्ठित बुद्धि की कर्कशता और तुम्हारी प्राप्त विद्या की विशारदता की नंगी संगाई का एक प्रमाण जग-जाहिर हो सके। उस मे एक स्थल पर लिखा है—

"स क्षुत्पिपासादि भिर्वात्यन्तमाघ्राता इति।"

इस की टीका का भावार्थ लिखते हुए, तुम ने लिख

मारा है, कि "उन्हें क्षुधा तथा तृषा की वेदना नहीं सताती।" भ्रमचारी जी! इसकी टीका में, जो "अत्यन्त" शब्द आया है, उस बेचारे का तो, यहाँ आप बिलकुल खातमा ही कर गये। साथ-ही-साथ, 'आदि' शब्द को भी चूरन-चटनी-दाल का मसाला बना कर, हज़म कर गये। और ऊपर से डकार तक न ली। भ्रमचारी जी! दुनिया तुम जैसी अन्धी नहीं है। वह तुम्हारे गप्पों पर विश्वास नहीं कर सकती। सुन्दरलाल जी! यूँ टीका के मूल शब्दों को छोड़ देकर, उस पर अपने नाम की छाप बैठाने का जघन्य कार्य तो, एक मामूली-से-मामूली बुद्धि वाला आदमी तक नहीं कर सकता। उपर्युक्त छोड़े हुए दोनों शब्दों को, यथास्थान लगा देने से, अर्थ स्पष्ट हो जाता है, कि 'उन्हें क्षुधा, तृषा आदि अत्यन्त नहीं सताती।' इसका मतलब यह है, कि उन्हें क्षुधा आदि सताती तो है, परन्तु बहुत अधिक नहीं। अजी, बहुत अधिक चाहे न हो। न सही। पर है तो न? इनके बिना कोई इस संसार में रह ही कैसे सकता है? सर्वज्ञ वीर प्रभु! ऐसे-ऐसे वे एक ओर तो, आप के अनुयायी कहलाने का स्वाँग आज भर रहे हैं, और दूसरी ओर येही दिन-दहाड़े, शब्दों तक की डकैतियाँ करके, आपके अनुयायी समाज के लोगों को, व्यर्थ ही में त्रस्त कर रहे हैं। प्रभु! यदि आपका भौतिक शरीर यहाँ अभी होता, तो इन पुरुषों की ऐसी काली करतूतें देख तथा सुन कर, आपको कितनी तरस, इन पर आती!

और वहाँ भी हुआ था, कि चॉवल बनाने के शुद्ध पात्र मे से चॉवल निकाल निकाल कर, भाजन करने के अलग बर्तनों मे परोस दिये जाते हैं और थे। यूँ, सब के भोजन कर लेने के बाद, उस सुरक्षित एवं शुद्ध बर्तन मे, जो चाँवल बच रहे थे; उन्हें फेंकने के लिए उसी बर्तन को हाथ मे लेकर, दासी जा रही थी। बीच ही मे भगवान् उसे मिल गये। और वे चाँवल, श्रद्धा और भक्ति के द्वारा, उन्हें बहरा दिये गए। वे चॉवल न तो झूंठे ही थे; और न अप्राशुक ही। इस मे सीधी-सी बात को भी, भ्रमचारी जी भ्रम-भरी समझ बैठे, पर है, यह बात उनके अनुकूल ही। क्योंकि मनुष्य अपनी ही तो भावनाओं का पुतला हुआ करता है। और, भावनाएँ बनती हैं, उन्हीं-उन्हीं कामों एवं बातों से, जो वह प्रति क्षण, अपने जीवन मे करता-कराता रहता है। इस सिद्धान्त के आधार पर, हमे तो यही जान पड़ता है, कि बाहर नहीं, तो न सही; परन्तु कम-से-कम भ्रमचारी जी के अनुयायी घरों मे तो यह कूँडापंथी परिपाटी अवश्य ही काम मे लाई जाती होगी, कि जिस बर्तन में उनके यहाँ कोई खाना पकता होगा, उसी में वे, और उनके प्यारे परिजन लोग, मिलकर हाथा-पाई करने को बैठ जाते होंगे। तभी तो इन को, यह अनोखी सूझ, सूझ पड़ी।

भ्रमचारी जी के खोपडे पर, शैतान ने अपने उल्लू की लकड़ी, ऐसी औंधी-सीधी फिराई, कि जिससे उन्होंने

"कल्पित कथा-समीक्षा में, महावीर को माँस खिलाने का भर-पेट प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज के न तो किसी व्यक्ति ही ने इस बात का कहीं कोई उल्लेख किया है; और न उनके आर्ष सूत्रों ही में, ऐसे भोंड़े और गंदले कथनों का कोई जिक्र आया है। परन्तु हाँ भ्रमचारी जी! तुम जैसों ही ने अपने बुद्धि-बल के क्षय-रोग के कारण, अर्थाभास के वास्तविक तत्व को न समझ कर ही, माँस खाने का दोषारोपण, परम कृपालु एवं अहिंसा के प्रत्यक्ष अवतार, प्रभु महावीर पर करने का प्रयत्न किया है। परन्तु याद रक्खो, तुम्हारे जैसों के ऐसे अंट-संट विचार और गंदले प्रचार से वीर भगवान् के अमल धवल यश का एक बाल भी कभी बाँका नहीं हो सकता। हाँ; ऐसे प्रचारों तथा विचारों से तुम्हारी निरक्षरता का पता तो संसार को अवश्य ही लग जावेगा।

आगे चल कर महावीरस्वामी के आहार के साथ कोई भी सम्बन्ध के न होते हुए भी आचारंग सूत्र जी का मूल-पाठ, तुमने लिख मारा है। अजी सुन्दरलाल जी! जरा हीये की आँखों से तो देखो। अरे आचारंग-सूत्र का यह पाठ, महावीर स्वामी के आहार के साथ जब कोई मेल ही नहीं खाता, तो तुम ने इसे उद्धृत क्यों और कैसे कर दिया? भ्रमचारी जी! यह पाठ तो, उन मुनियों के लिए है, जो भिक्षुओं की सातवीं पड़िमा का पालन कर रहे हों। फिर इस पाठ का आशय भी यही है, कि घर के सारे कुटुम्बी याचक, अतिथि आदि तथा घर के समस्त अन्य पालतू प्राणी

जैसे गाय, भैंस, बैल, आदि किसी भी प्राणी के किसी भी प्रकार की जरा-सी भी अन्तराय न लगने पावे। अर्थात् सब प्राणियों को सबका उचित भाग मिल चुकने के बाद जो भी कुछ बच रहे, उस आहार को सातवीं पड़िमा के धारण करता मुनि लोग ग्रहण कर॰ के पड़िमा-प्रतिज्ञा पूरी करते हैं। आगे चलकर अजी भ्रमचारी जी! तुम ने द्विपद का अर्थ कौए, चील, और गृद्ध किया है। तब तो कदाचित तुम भी उन्हीं की श्रेणी मे आजाते हो। क्योंकि तुम भी कोई चतुष्पद या चौपाये अर्थात् ढोर-ढंगर तो हो नहीं। तुम्हारे भी तो दो ही पैर हैं। अब बताओ तुम कौन हो ? कौए तो काने होते हैं, वे एकाक्षी होते हैं, अतः तुम भी यदि कौए हो तो काने ज़रूर हुए। कदाचित् इसी कारण तुम दुनियावी बातों तथा कामों को यथार्थ रूप में नहीं देख पाते। अरे भ्रमचारी जी! ज़रा यह तो बताओ, कि श्वेताम्बरों के कौन से आगम में 'द्विपद' का अर्थ कौए, चील, और गृद्ध किया हैं ! अरे! जैसे तुम अपने हठ धर्मीपन के वश मे होकर, हमारे आगमों के अर्थों का अनर्थ करने मे जुट पड़े हो, यदि हम भी "Tit for tat" अर्थात् 'जैसे को तैसा' के नाते तुम्हारे दिगम्बर पुराणों के पीछे पड़ जावें तो बताओ फिर तुम्हारी कैसी दुर्दशा होगी ! ज़रा उस दिन को ध्यान मे रख कर काम करो।

भ्रमचारी जी! जिन बर्तनों मे भोजन बनाया जाता है, उन बर्तनों में तुम जैसे असभ्य को छोड़ कर शेष और तो कोई भी सभ्य पुरुष कभी नहीं खाते। अतः उन बर्तनों मे के चाँवल

दाल, एव दलिया, आदि सभी प्रासुक और पावन रहते हैं। उन्हीं जैसे वर्तनों मे के चाँवल, दाल, और दलिया, जो कि फेंके जा रहे थे, उसे उस वहुला दासी ने यदि अचानक मिल जाने वाले भगवान् को वहरा दिया, और भगवान् ने उन्हें ले लिया, तो इस मे तुम्हारी कौन-सी क्षति हो गई। हाँ, जिन वर्तनों मे भोजन बनाया जाता है, उन्हीं मे खा लेने की चाल, यदि तुम्हारे दिगम्बर समाज में हो, तो वह वात निराली है। और तव वह अन्न अवश्य ही अप्रासुक-अशुद्ध वनेगा। इस मे अचरज ही कौन-सा है। क्यों जी भ्रमचारी जी ! तव तो दिगम्बर समाज के लोग अपने नंगे मुनियों को भी वही अप्रासुक, और झूठा भोजन वहराते होंगे। और, उनकी वची-खुची झूठन-झाठन आपके पल्ले पड़ती होगी। क्योंकि आप उनके चेले ही तो ठहरे। वाह भाई ! तव तो भली वनी।

अजी भ्रमचारी जी ! तुमने लिखा है, कि महावीर स्वामी को आहार अकसर करके, दासियों के ही हाथों से वनवा कर दिलवाया गया। क्यों जी, तुम्हारे इस अकसर करके का कोई शास्त्रोक्त प्रमाण तुम्हारे पास है ? यदि एक-आध प्रमाण भी इस सम्बन्ध का, तुम पेश कर देते, तो तुम्हारा कहना और लिखना हम अक्षरशः सत्य मान लेते। चमडे की जवान में से जो भी छूट गई, उसी को अपनी और अपने वाप की मानली। पर करे क्या, वेचारे भ्रमचारी जी ! अपनी गप्पे हाँकने की आदत से लाचार है। यदि भगवान् ने दासी के हाथ का लिया भी तो भ्रमचारी जी !

इसमें तुम्हारा नुकसान ही कौन सा हुआ। आखिर वे भगवान् ही तो थे। अरे भेदा-भेद के भावों को जड़-मूल से उन्होंने अपने दिल से भुला दिया था, तभी तो दुनियाँ में वे भगवान् माने गये. तथा दुनियाँ में जब तक अहिंसा की उपासना होती रहेगी, तब तक वे वैसे ही माने जावेंगे। भगवान् कहते किसे हैं? जरा इस बात को तो जानो-पहिचानो। देखो—

(१) (२) (३) (४) (५) (६)
श्री, ऐश्वर्य, विराग, यश; मोक्ष-धर्म, अरुज्ञान।
इन षड भग की खान जो, तेहि कहिये "भगवान॥"

उन्हीं सर्वज्ञ भगवान के सिद्धान्त में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान हुआ करता था। अर्थात् वे किसी व्यक्ति की जाति को उसके कर्म ही के ऊपर से ठहराते थे। जन्म से चाहे कोई नीचकुलोत्पन्न भी होता, फिर भी कर्म उसके श्रेष्ट होते, तो वह कैसा ही नीच कुलोत्पन्न क्यों न होता, भगवान के सिद्धान्तों, विचारों और उनकी निगाहों में वह श्रेष्ठ कुल वाला,ही माना जाता। तुम उस दासी के कुल के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करना चाहते हो। इस पर हम कहते हैं, कि यदि वह तुम्हारे ही कुल को मान ली जावे, तो इसमें तुम्हारा'मान ही कौन सा मैला हो गया!' इससे तो उल्टा तुम्हारे कुल का गौरव ही बढ़ा।

चन्दनबाला के हाथों-पैरों में हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ डालने आदि की जो घटनाएँ, धनावह सेठ की स्त्री, मूला के द्वारा घटित हुईं, वह तो सब चन्दनबाला के कर्मों का उदय था।

भ्रम ही है। क्योंकि जो मैदान ही मे नहीं उतरता, वह पास या फैल क्या होगा ? अतः धड़ाम से मैदान में जरा कूद तो पड़िये।

भ्रमचारी जी ! जितनी भी कड़ी प्रतिज्ञाएं भगवान महावीर ने की थीं वे सब-की-सब अहिंसा के भावों से सराबोर थीं। उनके जर्रे-जर्रे से अहिंसा की ध्वनि फूट-फूट कर निकल रही थी। उन की प्रतिज्ञाओं को हिंसात्मक बताने की चेष्टा करना, यह तो अपने-आप को कलंकित करना है। और कुछ नहीं। यदि इस मामले को यह रूप तुमने दे दिया। तब तो तुम स्वयं ही पकड़ मे आ-जाओगे। तुम पूछोगे, कि कैसे ? सुनो। तुम्हारे दिगम्बर गुरुघंटाल, नित्य नयी-नयी प्रतिज्ञाएँ करते हैं। तब तो तुम्हारी ही मानता से वे सब-की-सब हिंसामयी ठहर जाती है। इस मामले में तो हम भी अधिकाश मे 'हाँ' ही कहेंगे। क्योंकि एक दिगम्बर गुरू के लिए, प्रति दिन पचासों घरों मे खास रूप मे (Special) भोजन बनता रहता है। परन्तु दिगम्बर मत के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार, है यह भोजन उनके लिए पूरा २ निषिद्ध ही। दिगम्बर शास्त्रों का प्रमाण है, कि 'आधा कर्मी आहार' अर्थात् वह आ-हार जो कि खासकर के साधुओं के लिए बनाया गया हो, वह तो उन्हें भूल कर भी न लेना चाहिए। हमारे इस कथन की सचाई के लिए यदि भ्रमचारी जी ! तुम चाहो, तो दिगम्बरीय धर्म-रसिक ग्रन्थ 'त्रिवर्णिकाचार' के पृष्ठ ३५५ पर लिखे हुए श्लोक ७५-से ७६ तक का एक वार अवलोकन कर जाइये। और फिर देखिये आप ही के 'भगवती आराधना' के पृष्ठ ११४ की गाथा

नं० २६३ में कहा है.—

"पिंड उवधिं सेज्जं उग्गम उप्पादणे सणादी हि।
चरित्त रक्खणटं सोधितो होदि सुचरित्तो ॥"

अर्थात आधाकर्मी आदि सोलह उग्गमन का सोलह उत्पात का, एवं दस ऐषणा का, यों पूरे-पूरे बयालीस दोषों से रहित भोजन ही, साधु के लिए, शुद्ध एवं शास्त्रोक्त होता है।

ऐसा निर्दोष भोजन ही साधुओं के लिए ग्राह्य बतलाया गया है। मगर ये दिगम्बरों के नंगे गुरु अपने आर्ष ग्रन्थों की आज्ञाओं का पालन क्यों करने लगे! वहाँ तो 'आधा-कर्मी' या आगा-कर्मी कोई कर्मी ही आहार क्यों न हो सभी स्वाहा हो जाता है। दूषित और अदूषित का विचार तो वे करें, जिन्हें संसार से कोई वास्ता प्रत्यक्ष में न हो। धन्य !

आज भी ऐसा प्रत्यक्ष देखा, सुना, और अनुभव किया जाता है, कि इन के नंगे गुरुओं में से, कोई अकेला साधु ही, किसी गाँव में पहुँच जाता है, तो उसके भोजन के लिये वहाँ के पचासों घरों में आरम्भ-समारम्भ करके भोजन बनाया जाता है। इस के लिये किसी प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं। वहाँ का प्रत्येक आदमी इस बात को जानता और मानता है।

पर हो। ज़बानी जमा-ख़र्च का वास्तव में कोई मूल्य ही नहीं। अस्तु।

दिगम्बर मतानुयायी, पंडित दीपचन्द जी वर्णी नरसिंह पुर निवासी द्वारा रचित "त्याग-मीमांसा" नामक पुस्तक को देख जाने की पाठक कृपा करें। यह पुस्तक, विक्टोरिया क्रास प्रेस, दरियागंज, देहली से दिसम्बर सन् १९३१ ई० में मुद्रित हुई है। इस के पृष्ठ ५ पर लिखा है, कि—

'एक भी साधु या एल्लक क्षुल्लक आदि अपने यहाँ आ जावे तो समस्त नगर-निवासी जैन नर-नारियों का व्यापारादि कार्य छूट जाता है। हज़ारों रुपये का ख़र्च माथे पर आ पड़ता है। आरम्भादि इतना बढ़ जाता है, कि कदाचित् लग्नादि प्रसंगों पर इतना होता हो। सभी को चिन्ता विशेष बढ़ जाती है।"

पाठको! पता लगा इस से हमारे कथन की सचाई का। क्या भ्रमचारी जी! उस के टकसाली होने का और भी कोई प्रमाण चाहिए? प्रमाण भी ऐसा-वैसा नहीं आपके घर ही का है। इस से यह तो स्पष्ट और निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया, कि दिगम्बर नंगे गुरू जितनी भी प्रतिज्ञाएँ करते, करवाते हैं। वे सब-की-सब हिंसात्मक, अजी हिंसात्मक ही क्यों? हिंसा से परिपूर्ण होती हैं। क्योंकि उनका एक आहार-मात्र ही यदि लिया जाय, तो वही महान् आरम्भ-पूर्ण होता है। जिसका प्रमाण हम अभी २ ऊपर दे चुके हैं। इस के विपरीत, भगवान् महावीर की प्रतिज्ञाएँ जितनी भी होती थीं। सब की-सब एक दम

द्ध, सात्विक, और अहिंसात्मक होती थीं। वे जो आहार करते
। वह अथ से इति तक शुद्ध सात्विक और निर्दोष होता था।
म जानते हैं, कि इस सम्बन्ध में अब सुन्दरलालजी रत्ती-भर भी
ूँ-चपट न करेंगे। फिर भी उनका बारह-मासिया पेट का दर्द
मिटा और कुछ आँय-बाँय बकने का प्रयत्न इन्होंने कभी
कया, तो उनको ऐसा मुँह तोड़ उत्तर एक परम परीक्षित राम-
ाण चूर्ण के रूप में, हमारी वज्र लेखनी के द्वारा, उन्हें दिया
ायगा, जिसका एक बार सेवन-भर कर लेने से उनके पेट के
ारे विकारों का सदा के लिए खातमा हो जावेगा।

भाई सुन्दरलाल जी! इस लेखक की यह प्रसादी ही, अभी तुम्हारे लिए पर्याप्त होगी। यदि इतने पर भी, तुम्हारा कोई विशेष हित-साधन न हुआ, तुम्हारा यथेष्ट मनस्तोष न हो पाया, तो एक महाप्रमादी लेखक, वह निकट भविष्य ही में

गरिमा का वर्णन करें भी तो कहाँ तक ? भाई ! जरा आँखें खोल कर अपने घर को एक बार बुहार ! पहले अपने घर के पोथों को तो मन्थन, एक बार कर जा। भाई ! यह भी कहाँ का सयानापन है, कि अपने घर के कुत्ते तो ताड़े जाते नहीं, घर में तो न जाने क्या-क्या हिमालय जैसी भयंकर भूलें भरी पडी हैं, और परायों के घर की रखवाली का ठेका लेने को घर से निकल पड़े हो ! सचेत होकर और जरा आगे-पीछे की सोच-समझ कर काम करो। चन्दनबाला के साथ मूला सेठानी ने जो भी बर्ताव किया था, वह तो उसके पापोदय का फल था। और भववान् महावीर स्वामी को चन्दनबाला ने जो आहार श्रद्धा एवं भक्ति-पूर्वक बहराया था, वह काम उसने अपने कर्मों को त्तय करके धर्मोपार्जन करने के निमित्त किया था। दूसरी ओर भगवान् महावीर का उससे त्तुधा. वेदनी कर्म शान्त हुआ। और इस प्रकार से एक बड़े भारी कड़े अभिग्रह की आराधना द्वारा, कर्मों का नाश भी। भाई सुन्दरलाल जी ! यदि तुम ऐसा मानने के लिये उतारु नहीं हो तो न सही। पर साथ ही इसके यह भी बताओ, कि तुम्हारे ही सिद्धान्तानुसार, तुम्हारे नंगे गुरु जो घर-घर और दर-दर आहार करने के लिये जाते-आते रहते हैं, तो क्या यह उनके पाप-कर्मों का उदय है ? और दूसरी ओर क्या उन लोगों के भी यह कोई पापों का उदय है, जो वे बेचारे घंटों तक, लौटा ले-ले कर, अपने-अपने

दर्वाजों पर, उनकी प्रतीक्षा में, खड़े रहते हैं?

अरे भ्रमचारी सुन्दरलाल जी! वीर भगवान् तो समदर्शी थे, और सदा सम-दर्शी ही वे रहे। उस दाह-ज्वर से वे ऊबे तो ज़रा भी नहीं थे। पर हाँ, उस से सीहा अणगार का धैर्य अवश्य टूट गया था। बस, यही कारण था, कि परम कारुणिक प्रभु उसकी आत्मा को और अधिक समय तक त्रस्त न देख सके। इसी उद्देश्य को मद्दे-नजर रख कर, उन्होंने रेवती के यहाँ से, औषधि लाने के लिये उनसे कहा था। भाई भ्रमचारी जी! तुम्हारी बुद्धि अब बोथरी (Blunt) होकर, बेकार-सी हो चुकी है। अच्छा तो अब यह हो कि, तुम प्रति-दिन एक या दो बार घंटे या दो घंटे तक इसे शास्त्र-मन्थन की सान पर चढ़ा लिया करो। जिस से कुछ-न-कुछ काम की तो यह अवश्य ही हो जावेगी। भाई! सीहा अणगार को शान्ति प्राप्त हो जाय, एक-मात्र इसी उद्देश्य से, भगवान ने उनके द्वारा औषधि मँगवाई थी। इसमें उनका स्वार्थ-साधन तो राई-रत्ती भर भी न था। फिर महात्माओं और सन्तों के सच्चे लक्षण भी तो यही हैं, कि—

दुखित होहिं पर-विपति विसेखी ॥"

देखा, भ्रमचारी जी ! नवनीत (मक्खन) कितना कोमल होता है। उससे भी सन्तों का हृदय बहुत अधिक कोमल और श्रेष्ठ होता है। क्योंकि नवनीत तो अपने ही ताप से तप जाता है। और सन्त-हृदय तो परायों के दुखों को देख कर कातर बनता है। वे परायों के दुखों के आगे अपने दुखों को तो कुछ समझते ही नहीं। तब बताओ, भ्रमचारी जी ! इस मे भगवान् के हृदय का राग-द्वेष कौन-सा हो गया ? जो तुम उन पर राग-द्वेष का लांछन लगा रहे हो। अजी इसमे राग-द्वेष तो आपके दुई से भरे हुए दिल का है। और दोष मढ़ रहे हैं, आप भगवान् के सिर पर। यह तो वही बात हुई, कि पीलिया रोग तो हो रहा है, आपकी आँखों मे, और मढ़ आप उसे रहे हैं, दूसरों की आँखों में ! भ्रमचारी जी ! "भगवान् महावीर के आदर्श जीवन" में तो कहीं एक भी किसी परस्पर टकराने वाली बात का वर्णन नहीं है। परन्तु हाँ, तुम्हारी दिगम्बर पुराणों में तो ऐसे परस्पर विरोधात्मक वर्णन; पचासों पाये जाते हैं। जिनका प्रसंगानुकूल कुछ वर्णन तो हम यथा-स्थान पहले ही कर आये हैं। और जैसा भी प्रसंग आगे आवेगा, फिर भी उसका दिग्दर्शन हम अपने पाठकों को कराने की चेष्टा करेंगे। भ्रमचारी जी ! क्या इन छुई-मुई की दुई-भरी विरोधात्मक, आपकी प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण(?) पुराणों की बातों से, उन के दिग्गज (?) लेखकों की बुद्धि और

अनुभव का मूल्य, सहज ही मे नहीं आँका जा सकता ?

भ्रमचारी जी! तुम भगवान् महावीर के साथ, गोशाले की ज्यादती दिखा कर, उनके अतिशयों पर लीपा-पोती करना चाहते हो। मगर ध्यान रक्खो, है इसमे तुम्हारी महान् धृष्टता। क्योंकि गोशाला के द्वारा, भगवान महावीर के शरीर मे दाह-ज्वर आदि के होनेवाली घटनाओं को हम, स्थानकवासी लोग तो अछेरा ही मानते हैं। अर्थात् उसे एक अघटन-घटना मानते हैं। इस न होने जैसी बात को जो हो जावे तो दिगम्बरों के यहाँ भी अछेरा ही माना गया है।

भ्रमचारी जी! इसी न्याय नियम से, तब तो भगवान महावीर के भौतिक शरीर मे भी गोशाला के द्वारा दाह-ज्वर आदि उपसर्ग हो गये। पर भाई! तुम जैसा भी चाहो कहते रहो, हम तो इसे तुम्हारे दिल और संस्कृति की मुर्दगी ही कहेंगे, कि तुम अपने घर के अन्धे को तो, कभी भूलकर भी अंधा नहीं कहते। परन्तु हाँ पराये के सुजाखों को तो तुम खुशी २ अन्धे कह दिया करते हो, और सदा के लिये उसे वैसा ही मान भी बैठते हो। क्यों जी, ऐसा करते समय तुम आत्म-धिक्कार के शिकार नहीं बन पाते? भाई! नसीब होती रहे यह निन्दावृत्ति तुम्हारी तुम्हें। जिससे, पराये को, आत्म परिचय प्राप्त करने और उसे मनन करने का मौका तो मिलता रहे।

भाई ब्रह्मचारी जी! आपने अपनी पुस्तक में यत्र तत्र [illegible] का खूब ही प्रयोग किया है। तो क्या आप किसी

नक्कारखाने में, नक्कारची के काम पर नियुक्त हैं, जो 'डंके की चोट' प्रति क्षण आपकी जबान पर धरा ही हुआ रहता है? आगे चलते हुए ब्रमचारी जी लिखते हैं, कि शत्रु-मित्र का क्रोध उपशम हो जाता है, तो फिर महावीर स्वामी पर से गोशाला का क्रोध क्यों नहीं उपशम हुआ ? ब्रमचारी जी दिमाग़ तुम्हारा, कितना अड़ियल है, कि ज़रा ही पहले देर की कही हुई बात तक को तुम उस में नहीं रख सकते। अरे अभी-अभी तो, हमने तुम्हें कहा ही है, कि गोशाला से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी बातें भगवान के साथ हुई हैं, वे सब-की-सब 'अछेरे' में सम्मिलित हैं।

ब्रमचारी जी! ज़रा देखिये तो! आप के दिगम्बर मत के 'आराधना-कथासार-कोष" में लिखा है, कि 'भगवान के समवसरण में, भगवान् का पोता, चेला वारिषेण भ्रष्ट हो रहा था।' पाठको! भगवान् तो अविकारी थे। उनकी मौजूदगी होने पर भी उनके समव-सरण में वारिषेण को विकार पैदा क्यों हो गया! ब्रमचारी जी! हम एक बार कहें तो वही बात; और सौ बार कहें तो वही बात। तुम्हारे घर में चाहे कौए कुत्ते भले ही घुसे पड़े हों; और उसे बरबाद कर रहे हों। इस बात की तो तुम्हें कोई सुधि तक नहीं है। परन्तु हाँ! परोपकारी (?) जीव ही तो ठहरे! जो दूसरों के घर की रखवाली करने के मिस, लठ हाथ में लेकर बाहर निकल पड़ते हो! अरे ज़रा, एकान्त में बैठकर पहले अपने घर की पोथियों को तो छान जाओ। तब तुम्हें जान

ऐसा मानकर अथ-से-इति तक उस मानता का निर्वाह भी किया गया है। परन्तु भ्रमित बुद्धि के भ्रमचारी जी को, उसमें भेदा-भेद की झलक नज़र आ रही है। यह उनकी सत्यासत्य के निर्णय न कर सकने वाली बुद्धि का दीवाला है। यह उनका घोर-तम दम्भ है। इस पर भी तुर्रा यह, कि ऐसा करके भी वे अपने आप को एक महान पंडित सिद्ध कर रहे हैं, और मान रहे हैं।

तीर्थंकरों मे अतिशय, नियम ही से होते हैं। और वे अतिशय भगवान् महावीर में भी थे। अतिशय होते हुए भी तीर्थंकरों को उपसर्ग का होना और उसे अछेरे के रूप मे कहना, तथा मानना दिगम्बर लोग भी एक मत से स्वीकार करते हैं। इतना होते हुए भी भ्रमचारी जी की बुद्धि पथरा गई, दिमाग चक्कर खा ही गया। इसी कारण से फिर भी वे पूछ-ताछ कर बैठे। हाँ भाई भ्रमचारी जी! इसमे तुम्हारा कोई दोष नहीं। क्योंकि तुम नंगे गुरुओं के चेले ही तो ठहरे।

भगवान् महावीर के पास शीत-लेश्या थी। फिर भी गोशाला के द्वारा डाली गई तेजो लेश्या से ग्रसित मुनियों को वे बचा क्यों न सके? यूँ एक निरे अज्ञानी बालक के समान भ्रमचारी जी प्रश्न कर रहे है। मगर उनके हीये की आँखें होतीं, तो वे भली भाँति जान पाते, कि एक अन्य मतावलम्बी तापस के द्वारा डाली गई तेजो-लेश्या से ग्रसित गोशाला को भगवान् महावीर ने अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से बाल-बाल बचा लिया था। और उस का

आयुष्य भी अभी अवशेष था। बस इसी से वह वच भी पाया। मगर ऊपर जिन दो मुनियों के सम्बन्ध मे पूछा गया है, उनकी आयु तो बिलकुल ही क्षीण हो चुकी थी। भगवान् सर्वज्ञ थे। वे भली भाँति जानते थे, कि उन के रोकने पर भी वे दोनों मुनि गोशाला से बोलेंगे! और बोलेंगे। और उसकी तेजो-लेश्या द्वारा उन दोनों की मौत भी अवश्य ही हो जावेगी। फिर जो भी उनकी शीत-लेश्या, उसकी तेजो-लेश्या के प्रभाव को भी पूरा-पूरा मार सकती थी; तब भी उन दोनों मुनियों के क्षीण हो जाने वाले आयु-कर्म को तो, उनक शीत-लेश्या, जोड नहीं सकती थी। अजी भ्रमचारी जी! वीर और सर्वज्ञ भगवान्, ये सब वातें, भली भाँति, जब पहले ही से जान-बूझ रहे थे, तब ये अपनी शीत-लेश्या का प्रयोग, क्यों और कब करने लगते?

भगवान् केवल ज्ञानी थे। अतः वे यह भी जानते थे, कि गौशाला उपसर्ग करेगा। तब दाह-ज्वर का प्रकोप होने पर, सीहा अणगार को धैर्य बँधाने के निमित्त उन्हीं अणगार द्वारा उन्हें औषधि भी मँगवानी ही पड़ेगी। यह सब घटना तो छटी की रात के लेख की भाँति, घटने वाली थी ही। तब भगवान् सर्वज्ञ होते हुए इनका कोई विच-विचाव करने ही क्यों लगते? यदि वे इस तरह से कर्म की रेख में मेख मार भी देते, तो इससे तो यही होता, कि संसार मे, भवि-तव्यता का बन्धन ढीला पड़ जाता, और लोक-मर्यादा का बाँध

सदैव के लिये टूट जाता। परन्तु भ्रमचारी जी! जितने भी महा-पुरुष जगत् में समय-समय पर आते हैं, वे लोक-मर्यादा की रक्षा का कार्य ही लेकर, यहाँ आये और आते हैं। विश्व की विशृंखलाओं मे समता ला देना, बस, एक मात्र यही उनके अवतार का पवित्र और गुरुतर उद्देश होता है।

तब तो भ्रमचारी जी! तुम्हारा इस सम्बन्ध में प्रश्न करना भी बिलकुल ही थोथा, और बेकार सिद्ध हुआ।

भ्रमचारी जी! भगवान् के घातिया कर्म तो नाश हो चुके थे। परन्तु अघातिया—अर्थात् वेदनीय, आयुष्य, नाम, तथा गोत्र ये चार कर्म शेष रह गये थे। बस तब तो उसी वेदनीय कर्म के उदय से भगवान् महावीर को गोशाला के द्वारा उपसर्ग हुआ। तब इस मे भ्रम की तो कोई बात थी नहीं। फिर भी तुम्हारी बुद्धि चकरा गई। वह ठीक ही है। क्योंकि 'यथा नाम-स्तथा गुण.' होना ही चाहिए।

गोशाला को क्रोध उत्पन्न हो, ऐसा उत्तर भगवान ने गोशाला को नहीं दिया। और देते भी तो कैसे और क्यों? उनके वचन तो सदा-सर्वदा शान्ति ही से सराबोर रहते हैं। परन्तु हाँ, तुम जैसे को तो शान्ति-पूर्ण वचनों पर भी क्रोध आ जाता है। क्योंकि उनके भौतिक शरीर की रचना ही वैसे क्रोधाणुओं से होती है। इस नाते, उन्हें क्रोध आना ही चाहिए। उदाहरणार्थ, मिश्री, यूँ तो मानव-समाज के लिये स्वाद मे बड़ी ही मीठी और गुण मे ठंडी होती है। परन्तु

उसी मिश्री का सेवन कोई गधा कर बैठे, तो वही उसकी प्राण-लेऊ तक बन बैठती है। कहिए, भ्रमचारी जी! इस मे उस बेचारी मिश्री का कोई क्या दोष? सर्वज्ञ भगवान् तो पहले ही से जाने बैठे थे, कि गोशाला आवेगा मेरे इस प्रकार के वचन, उसे खलेंगे। तब ये-ये घटनाएँ घटेंगी। जो बातें केवल ज्ञान के द्वारा दिखाई दी थीं, उन्हें टाल कौन सकता था! अरे भ्रमचारी जी, तब तो तुम व्यर्थ ही मे भगवान् के ऊपर अनेकों प्रकार के झूठे आक्षेप लगा रहे हो।

भगवान् महावीर स्वामी को गोशाला के द्वारा उपसर्ग हुआ। यह बात स्वयं भगवान् ने फर्माई है। क्योंकि वे भगवान् थे। अतः सत्य को प्रकाशित करने मे उन्हें संकोच ही कौन-सा था? संकोच हो भी तो संसारी भ्रमचारियों को। फिर जब महावीर स्वामी के वेदनीय कर्म अवशेष था, तब उस काल में भूख और प्यास का लगना भी उनके लिये स्वभाविक ही था। और भ्रमचारी जी! जब कोई आहार पानी करेंगे, तो टट्टी और पेशाब की हाजत भी उन्हें अवश्य होगी ही। यही नहीं जब वे कर्म ही वेदनीय हैं, तब उनके उदय होने पर, रोगों का पैदा होना भी अनिवार्य ही होगा। यदि भ्रमचारी जी, यह बात कहें, कि वेदनीय कर्म तो, केवल जली-जेवडी ही के समान होता है, वह उदय में तो कभी आता ही नहीं; तो उनका यह कथन ठीक वैसा ही अनर्गल और असत्य है, जैसे कि उल्लू के लिये ज्योतिपाज्योति सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश, अनर्गल और

असत्य है। भाई भ्रमचारी जी! जब वेदनीय कर्म, फल देने वाला नहीं होता, तो फिर आयु-कर्म का फल-दाता भी क्यों होना चाहिए? और तब तो आपकी राय शरीफ से तो केवली अवस्था मे भी जीवित रह सकना असम्भव ही हो जायगा? परन्तु भ्रमचारी जी! क्या सचमुच में होता भी ऐसा ही है? जान पड़ता है, आपकी मुलाज़मत से, अक्ल ने सदैव के लिये, इस्तीफा दे दिया है। यही कारण है, कि सत्यासत्य का निर्णय करना तो, वह बिलकुल भूल-ही-सा गई है। अजी! बुद्धि के बवंडर जी! जब आप के कथनानुसार, आयु-कर्म भी फल नहीं देंगे, तो केवली अवस्था में जीवित रहना भी कैसे बन पड़ेगा? तब तो आपकी धारणा से, नाम-कर्म भी जड़ ही होना चाहिए। अर्थात् वह भी फल न देने वाला ही होना चाहिए। तब हम तुम से पूछते हैं, कि केवली अवस्था मे जो अतिशय वगैरह होते हैं, वे क्यों होते हैं? क्योंकि जितने भी अतिशय आदि हैं, वे तो सब-के-सब नाम-कर्म ही के फल कहे गये हैं। फिर अनुभव शास्त्र और सन्त सभी तो एक स्वर से कहते हैं, कि गोत्र कर्म भी फलदाता होता है। तभी तो कोई या वे उच्च कहलाते हैं। भ्रमचारी जी! जब नाम-कर्म, आयु-कर्म और गोत्र-कर्म ये सभी कर्म, केवली अवस्था मे फल दे रहे हैं, तो फिर भला बेचारा वेदनीय-कर्म ही फल क्यों नहीं दे सकता है? अवश्य देगा।

अस्तु। भ्रमचारी जी! अब तो आप निर्विवाद-रूप से

मानेंगे, कि वेदनीय-कर्म फल देता है, और अवश्य देता है। बस, तब तो इसी कर्म के फल-स्वरूप केवली पुरुष आहार करते हैं, और पानी पीते हैं। और जब खाते-पीते वे हैं, इस अवस्था में टट्टी, पेशाब की हाजत भी उन्हें होगी ही। इसमें शंका ही कौन-सी है? तब वेदनीय-कर्म भी उन्हें होगा। और उस कर्म के उदय-काल में, रोग आदि शारीरिक कष्ट भी, केवली पुरुषों को अवश्यमेव प्राप्त होंगे।

परन्तु जब ये उपर्युक्त चारों कर्म, केवली पुरुषों के नाश हो जाते हैं, तब न तो भूख ही इन्हें सताती है, और न किसी तरह की कोई प्यास ही इन्हें पीड़ा दे सकती है। जब रोगों की जड़, भूख और प्यास ही मिट गई; तब कोई रोग ही उनके शरीरों मे क्यों और कब होने लगा? इन्ही चारों कर्मों को मान लो, कोई जली-जेवड़ी समान कहते हैं। यह वचन, "संग्रह-नय' का है। जैसे "करे माणे करे," कोई पुरुष बम्बई जाने के लिए अपने घर से तो निकल चुका है, पर वह अभी स्टेशन पर भी नहीं पहुँच पाया है। इतने ही मे कोई आदमी उसके घर पर जाकर पूछ-ताछ करे, कि वे कहाँ गये हैं? तो इस प्रश्न के उत्तर मे साधारणतः यही कहा जाता है, कि 'वे बम्बई गये हैं।' एक दूसरा उदाहरण इसी सम्बन्ध का और लें। एक सौ हाथ की लम्बी एक रस्सी ले लो, जिसका एक सिरा जल रहा है। परन्तु दूसरा मुँह उस आगी से अभी बहुत दूर है। उसे पूरी २ जलने मे अभी कुछ समय लगेगा। परन्तु संग्रह-नय-न्याय से

रक्षकों को वे बेचारे समय पर ढूंढ़ते भी तो कहाँ ? यदि आपके भरोसे वे कहीं रहे होते तो आप के पहुँचने के पहले ही उनका सारा काम ही तमाम हो गया होता। अजी ब्रमचारीजी ! कहिये यह बात आपकी हरिवंश-पुराण में लिखी है या नहीं ? और लिखी है, तो सच है या नहीं ? यदि सच आप इसे मानते हैं, तो दैविक सहायता के विना इस सचाई के पैर टिक किस नींव पर सकते हैं ? अजी ! एक मंजिल के ऊपर से भी यदि कोई अचांचक गिर पड़ता है, तो उसकी भी हड्डी पसलियाँ चूर-चूर हो जाती हैं तब आकाश मे लेजा-लेजा कर कई बार गिराने और पटकने पर तो कदाचित उसकी बोटी-बोटी भी पिस जावेगी। इतने पर भी आप की हरिवश-पुराण के वसुदेवजी का बाल भी बाँका न हुआ। क्या इस रक्षा मे किसी अदृष्ट दैविक शक्ति का हाथ नहीं था ? यदि था, तो केवल दिगम्बरों ही के लिए ? परायों के लिए नहीं ? ब्रमचारीजी। घर के कूड़े-कचरे को तो कभी देख लिया करें ! तब परायों के घर के कूड़े-कचरे को बुहारने के लिए घर से बाहर निकलिये। ब्रमचारीजी ! या तो इस घटना को अपनी हरिवंश-पुराण के रचयिता की सारी थोथी और सफेद झूठ-भरी गप्प-मात्र समझने की स्वीकृति पेश करो, या किसी अदृष्ट दैविक शक्ति की सहायता की बात को सत्य-सत्य मान कर कामदेवजी वाली घटना के साथ अपना राजीनामा हो जाने की अपनी दिली इच्छा प्रकट करो।

ब्रमचारीजी अब हम तुम्हें इन प्रमाणों के द्वारा बतामे की

चेष्टा करेंगे, कि कामदेवजी की घटना, सचमुच में; एक दैविक घटना थी या नहीं ? भाई ! कामदेवजी को देव ने मार डालने की नीयत से नहीं रौंधा था। उस दैविक ताप से तो; किसी अदृष्ट दैविक शक्ति की केवल यही मंशा और परीक्षा रही थी, कि कामदेवजी अपने धर्म की दृढ़ता में कितने गहरे उतरे हुए हैं। वे अपने प्राणों के मोल से अपने धर्म को निर्भय होकर पालन करने के ज्ञान के मोल को कितना ऊँचा आँकते हैं देव की सारी माया, केवल इस एक बात की परीक्षा के लिए थी। मगर श्रावक कामदेवजी अपने धर्म में हिमालय के समान अटल, और सागर के समान गम्भीर थे। देव तो क्या, यदि स्वयं इन्द्र-देव भी उनकी परीक्षा लेने के लिए उतर आते, तब भी वे अपने धर्म से एक इंच-भर भी इधर-के-उधर न हुए होते।

भाई भ्रमचारी जी ! इस धर्म-प्रेम के राज-भवन में तो केवल वही कोई शूर-वीर प्रवेश कर सकता है; जो पल-पल में अपने प्राणों को उत्सर्ग करदेने के लिए, छटपटाता रहता है। जैसे—

यह तो घर है प्रेम का; खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुँह धरै, तब पैठे घर माहि ॥

अतएव, ऐसे धर्म-परायण, दृढ़व्रती पुरुष को, धर्म के पालन में, किसी कष्ट का अनुभव तो कभी होता ही नहीं। यदि किसी कष्ट का अनुभव, उसे कभी हो पाया, तब तो वह धर्म, धर्म रहा ही नहीं। वह तो, पंसारी के दुकान की कोई पुड़िया मात्र होगई।

जहाँ मोल और तोल की वात हो, वहाँ धर्म की बात-चीत, किसी भी हालत मे, हो कैसे सकती है ? भ्रमचारी जी ! धर्म की कठोर परीक्षा मे, जो भी और जितना भी कष्ट किसी व्यक्ति को मिलता है; वह तो; उस परीक्षा मे सफल होते ही सुख और समृद्धि के रूप मे बदल जाता है। सच्चे और वास्तविक धर्म की यही तो पहिचान और शक्ति है। पाठको ! प्रत्यक्ष उदाहरण है; कि देवी सीता जी को; उन की अग्नि-परीक्षा के समय, धधकते हुए अग्नि-कुँड मे डाल दिया गया था। परन्तु वही धधकती हुई प्रचंड आगी उन के अटल धर्म की शीतलता के आगे; पानी-पानी हो गई। सुदर्शन को शूली पर चढ़ाया गया। परन्तु उस धर्म-वीर के लिए वही शूली, एक बहु-मूल्य सिंहासन से भी अधिक उपयुक्त बन गई। भ्रमचारी जी ! कदाचित् आप पूछें, कि यह सब क्यों हुआ ? तो हम शास्त्र, सन्त और अनुभव के प्रमाण से दावे के साथ, यह कहेंगे, कि यह सब इसलिए हुआ कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् धर्म की रक्षा तुम करो, धर्म, बदले मे तुम्हारी रक्षा करेगा। वे सब-के-सब महान् व्यक्ति भी धर्म पर ध्रुव के समान अडिग थे। कहिये भ्रमचारी जी ! कामदेव जी के सम्बन्ध की सम्पूर्ण शंकाएँ आपकी अब तो रफू-दफू अवश्य ही हो गई होगी। यह उनके सत्य धर्म ही का प्रभाव था, कि एक विशालकाय हाथी के द्वारा रौंधे जाने पर भी वे मर न सके। फिर चाहे आप इसे किसी अदृष्टि दैविक सहायता के नाम से पुकारें या ध्रुव धर्म का प्रभाव आप

उसे कहें। अजी जो बातें एक दम सच्ची और प्रमाणित होती हैं, उन्हें तो आप शंका भरी दृष्टि से देखा करते हैं, अनगेल और असत्य उन्हें बताते हैं। और इन के विपरीत जो बातें अव्यवहारिक, अशास्त्रीय, अनुभव रहित असत्य बातों से भरी-पूरी होती हैं, उन्हें आप असत्य विश्वासनीय और शास्त्रीय मान बैठते हैं। भ्रमचारी जी! अब ज़रा आपके दिगम्बरीय पुराणों को और भी देख जाइए कि उस मे लेखक ने कहाँ तक अपनी लेखनी को असंयत रूप मे चलाया है! तुम्हारी 'आदिनाथ', पुराण मे लिखा है, कि—'जब भरतजी सेना लेकर गये, तो मार्ग मे गगा नदी पड़ी। वह बाढ़ पर थी, और किनारे छोड़ कर जा रही थी। भरतजी की सेना किनारे पर ठिठक रही। उसे वह पार न कर सकी। तब तो सेना के लोगों ने मिल कर उसमें खूब स्नान किया और कुल्ले किये। जिस से उसकी बाढ़ कम हो गई। और पानी उतर जाने से सेना भी पार लग गई।' धन्य! आपके इन बे-सिर-पैर के गप्पों की बलिहारी है! अरे, बेचारे दुनियावी लोग तक इतनी भारी गप्प भूल कर भी नहीं हाँकते। भ्रमचारी जी! हम यहाँ एक बात आप को पूछने का दुस्साहस करते है, कि सारी सेना उसी गगा मे नहाई भी; और कुल्ले भी वहीं के वहीं किये। क्यों जी तब वह पानी गंगाजी ही मे रहा, या उसके बाहर निकल गया? कदाचित् तब आप यह कह दें कि वह पानी तो उसके बाहर निकल गया।' इसके उत्तर मे हम आप से पूछते है, कि क्यों जी, जब नहाना, धोना, और कुल्ले

करने का सारा काम अन्दर-ही-अन्दर हुआ तब वह पानी बाहर कैसे और कहाँ निकल गया ? इस पर भी आप कदाचित् यह कहें, कि इतनी भारी जन-भाड़ के कारण खलबली मच गई। जिसके कारण वह शीघ्रता से बह कर निकल गया। परन्तु इस दशा में क्यों जी, गंगा के उस प्रचण्ड प्रवाह में वह जन-समुदाय गिर कर बह जाने से बच कैसे गया ? कदाचित् उसे बचाने के लिए आदिनाथ-पुराण के लेखक ने या तो स्वयं अपनी ही आँखें बन्द कर ली होंगी; अथवा वह स्वय ही, अपने आपको एक बाँध बनाकर, वहाँ आड़े पड़ गये होंगे ! भाई भ्रमचारी जी ! अरे; क्या कोई इस बात को भी मान सकता है, कि नहाने, धोने, और कुल्ले करने से, किनारे छोड़ कर बाढ़ पर आई हुई गंगा नदी का पानी कभी कम हो सकता है ? यह तो वैसी ही बात हुई, जैसे कि अकसर करके; माताएँ और बहनें अपने छोटे-छोटे बच्चों तथा भाइयों को रिझाने के मिस, गुड़िया-गुड़ियों के खेल के समय, कहा करती हैं।

तब एक-आध क़दम बढ़ कर, भ्रमचारी जी ने दर्शाया है, कि "कामदेव जी तो; उपसर्ग जीत गये। और महावीर तेजो लेश्या से घबरा गये।" भ्रमचारी जी ! कहीं और-छोर भी है; इस गप्प का ? श्वेताम्बर स्थानक-वासियों के गाड़ियों-भर धर्मशास्त्रों में से; किसी एक में भी तो यह नहीं कहा गया है; कि महावीर गोशाला की तेजो-लेश्या से तड़फड़ा उठे ! इस के लिए; तुम ने "भगवान् महावीर

के आदर्श जीवन" के पृष्ठ २५ पर के एक उदाहरण को भी वहाँ उद्धृत कर दिखाया है, कि "दाह ज्वर मात्र का प्रकोप, कुछ काल तक बना रहा। परन्तु समदर्शी प्रभु का अपनी उस अवस्था पर भी कभी कोई राग द्वेष न था।"

वाहरे भ्रमचारीजी! धूल तो फेकने को चाहा था तुमने सूरज पर, परन्तु आ पड़ी पीछी वही धूल तुम्हारे ही मुँह पर! करने तो चले थे बुराई भगवान् की, जिन शब्दों के द्वारा, चले थे भगवान के गुणों का खण्डन करने, उन्हीं शब्दों द्वारा, वीर भगवान के उन्हीं गुणों का मंडन और सोलह-आना मंडन होगया! यह है वीर और सर्वज्ञ भगवान के अद्भूत और अलौकिक गुणों की सर्वतोमुखी छाप! भाई भ्रमचारीजी! तुम्हारे ऊपरवाले उदाहरण से ही तुम्हारी बात बावन तोला और पाव रत्ती झूठी ठहर जाती है। अरे भ्रमचारीजी! तुम्हें अपनी पुस्तक के पिछले दो पृष्ठों तक की बात भी याद न रही? बस इन्हीं गप्पों के बल अपना नाम जग-जाहिर तुमने करना चाहा है।

भ्रमचारीजी! प्रत्येक श्वेताम्बर स्थानकवासी गृहस्थ के लिए शास्त्रों के पठन-पाठन करने की खुली परवानगी है। और तदनुसार यथा-समय और यथा-शक्ति वे करते भी हैं। "पढ़ैं सुत्तर तो मरैं पुत्तर" वाली कहावत तो तुम्हारे ही लिये मुबारिक हो, और तुम्हीं जैसों पर उस का चरितार्थ भी हो। क्योंकि पुत्र मर जाने का भय दिखाकर तो तुम्हारे खुद ही के मत में बेचारे

श्रावकों को, सूत्रों के पठन-पाठन से विलग रखने का प्रयत्न किया गया है। यदि प्रमाण चाहो तो दिगम्बर मत के "चर्चा-सागर" को एक बार मनन-पूर्वक पढ़ जाओ। उससे मुँह माँगा वरदान पा लोगे। उसमें एक नहीं, दो नहीं, वरन् पूरे-पूरे तीस श्लोकों के प्रमाणों से इस बात को प्रमाणित की गई है, कि "सिद्धान्त ग्रन्थों के रहस्यों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना आदि का अधिकार पाँचवें गुण-स्थान मे रहनेवाले, देशव्रती श्रावक को नहीं है।" इसी कथन की पुष्टि और समर्थन, तुम्हारे 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' नामक ग्रन्थ मे गृहस्थ के लिए, सिद्धान्त के पठन-पाठन के एक-दम निषेध द्वारा किया गया है। क्या, अब भी भ्रमचारीजी के हीये की आँखें न खुलेंगी ? वाह ! दरअस्ल बात तो यह है, कि तुम्हारे, घर के दिगम्बर मत ही में तो बेचारे गृहस्थों के लिए शास्त्रों के पठन-पाठन की मनाई की गई है। क्योंकि इस बात का विवेचन तो तुमने पहले ही खूब छान-बीन कर, कर लिया है, कि शास्त्रों के पठन-पाठन का काम गृहस्थों ने यदि अपने हाथों ले लिया, तो तुम्हारे घर के सारे गप्पों का एक-दम भण्डा-फोड़ हो जावेगा। और साथ-ही-साथ तुम्हारी पोप-लीलाओं का जग-जाहिर प्रदर्शन भी। अपने ग्रन्थों के इन गपोड़ों को अपने घर के इस छिपे हुए पाप-पुंज को, और भी छिपाये रखने के लिए भ्रमचारीजी ने श्वेताम्बरीय सूत्रों पर यह मिथ्या दोषारोपण करके अपनी माया जाल को और भी अधिक फैलाने का प्रपंच रचा है। पर भाई भ्रमचारी जी ! पापों की पूँजी भी कभी पची है और पचती है ?

नहीं कदापि नहीं भाई ! 'नखरे' की चमक-दमक है ही कितनी ? जब तक कि उसे कोई योग्य पारखी परख न ले। उस योग्य पारखी के पास पहुँच कर वह तो स्वयं ही बोल जाता है, कि वह 'न-खरा' है। अर्थात खरा नहीं है। पर भाई ! कुन्दन की चमक-दमक और उसकी लचक तो कुछ निराली ही होती है। जिस का भी दिल चाहे जब कभी और जहाँ कहीं, से कसौटी पर लगा-लगा कर परख ले। भ्रमचारीजी ! श्वेताम्बरीय समाज के सम्पूर्ण धर्म-शास्त्र भी उसी कुन्दन के समान एक-दम खरे और चमकीले-दमकीले हैं। संसारी आग मे कितना ही जला-भुना कोई क्यों न हो जो भी शुद्ध अन्त करण और सच्ची जिज्ञासा लेकर, जो भी कोई उन की शरण मे एक वार जाता है, उसके सम्पूर्ण पाप और तापों को वे मिटा देते हैं। इनके विप-रीत, भ्रमचारी जी ! तुम्हारी दिगम्बरीय पुराणों को पढ़-पढ कर, लोगों के कान अब खड़े हो रहे हैं; उनके जी अब उब उठे है। बस इन्हीं कारणों से तो,—'घर का भेदी, लका ढहाय।'—वाली बातें, आज मूर्तिमान होती हुई नजर आ रही है। तुम्हारे घर और समाज ही के लोग, तुम्हारी उन दिगम्बरी पुराणों की बातों को जोरों से प्रकाश मे ला रहे हैं। क्या इससे भी अधिक उनके झूठी कल्पित और सार-हीन होने का कोई और भी प्रमाण चाहिए ? आपको दर-दर और घर-घर का भिखारी न बनना पड़े; इसके लिये हम ही स्वयं तुम्हारी झोली में कुछ ऐसे ग्रन्थों के नाम और गाँव का पता डाले देते हैं, जो समय-समय पर

तुम्हारे ही कट्टर मतानुयायियों के द्वारा लिखे गये तथा प्रकाशित किये गये हैं। लीजिये, (१-२) आदि नाथ-पुराण-समीक्षा भाग प्रथम और भाग द्वितीय। (३) पद्म-पुराण-समीक्षा। (४) हरिवंश-पुराण-समीक्षा। (५-६) ग्रन्थ-परीक्षा प्रथम भाग और द्वितीय भाग। (७) चर्चा-सागर। आदि-आदि ग्रन्थों को, यदि ध्यान तथा मनन-पूर्वक अवलोकन तुम करोगे, तो हमारा ध्रुव विश्वास है, कि उन्हें देख और मनन करके; तुम्हारे सोये हुए दिलों मे अपने धर्म के प्रति एक झिझक-सी उठेगी; तुम्हें आत्म-ग्लानि का अनुभव होगा, और तुम्हारे अन्ध-विश्वास का सदा के लिये खातमा हो जावेगा। उस दिन तुम्हे जान पड़ेगा, कि तुम्हारे खुद के घर मे और उसके आस-पास; कूड़े-कचरे के गन्दगी फैलाने वाले कितने बड़े-बढ़े ढेर लगे हुए हैं। और जगत् की दौड़ा-दौड़ी मे तुम कितनी शताब्दियों से पिछड़े हुए हो। एक ओर तो अपनी अन्धी और अपाहिज सन्तानों तक को, सर्वांग सुन्दर और सर्व-गुण सम्पन्न बताना, और दूसरी ओर परायों की भली और लोक-कल्याण-कारक बातों तक को गॅदली और गई-गुजरी कह कर; उनकी अवहेलना करना; ये बातें तो नंगे गुरुओं और भ्रमचारी-जैसों को ही नसीब होती रहें। सुधार के ठेकेदार भाई भ्रमचारी जी! परायों की पोलें खोल करके, और अपने आपकी तारीफों के पुल बाँध करके, सुधार की राज-घोषणा करना यह तो कुदरती क़ानून के बिलकुल ही खिलाफ का मार्ग है। भ्रमचारी जी! सुधार-सुधार चिल्लाते रहने से तो

सुधार न कभी हुआ ही है और न कभी होता ही है। सुधार के लिये तो सात्विक त्याग और निःस्वार्थ सेवा की निरन्तर आवश्यकता है। जो महापुरुष इन दोनों बातों के पीछे, अपने सर्वस्व तक को होम देने लिये छटपटाता रहता है, वही कुछ वास्तविक सुधार, संसार मे कर पाता है। और वह भी अपने निजू आदर्श ही के द्वारा। भाई भ्रमचारी जी! देर या सवेर मे, आना तो तुम्हें भी इसी मार्ग पर पड़ेगा। आज अपने हठ-धर्मीपन से चाहे तुम इस अप्रिय किन्तु वास्तविक सत्य को मानो या न मानो। अभी तक तो दिगम्बरीय पुराणों पर, श्वेताम्बरी समाज की कलम उठी तक भी न थी। परन्तु अब, जब कि भ्रमचारी-जैसे लोग तक घासलेटी साहित्य को लिख-लिखा कर समाज मे कलहाग्नि को प्रज्वलित करने की अनाधिकार चेष्टा कर रहे हैं, तब जो भी इस बात के हमारे अपने श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों से बिलकुल विपरीत होते हुए भी, कम-से-कम आत्म-संरक्षण के नाते ही, हमे भी लेखनी के मैदाने-जंग मे, कमर कस कर उतर आने के लिये विवश होना पड़ा है। क्योंकि आत्म-संरक्षण, कुदरत के कानून का सब-से-प्रथम और प्रमुख सिद्धान्त है। अतः भाई भ्रमचारी जी ने, "Tit tor tat" अर्थात् 'जैसे को तैसा', के नाते, हमें इस बात का अवसर देकर और आह्वान करके अपने सामने बुलाया है, कि अब हम भी निःसंकोच हो कर दिगम्बरी पुराणों की अनमेल बातों को सर्व-साधारण के सामने, उनके अपने असली-

रूप में, प्रकाशित करके, ज्यों-का-त्यों रख दें। समय की इस माँग को पूरा करना, हम भी अपना कर्तव्य और श्रेष्ठ धर्म समझते हैं। अतः हम भी अपनी लेखनी को हाथ में लेकर भ्रमचारी जी के घर का भण्ड-फोड़ करने के लिये घर से बाहर निकल पड़े हैं। भाई भ्रमचारी जी! अब आप भी सचेष्ट होकर प्रतीक्षा कीजिये कि आये दिनों आपकी दिगम्बरता के क्या-क्या गजब के गुल खिलते हैं।

आगे चलकर, 'अस्तेयाणुव्रत-ऐसी चोरी नहीं करना जो दण्डनीय हो।' ऐसा उदाहरण देकर उस का औंधा-सीधा अर्थ करने मे भ्रमचारी जी। महाशय (?) महान्-से-महान् मायावी लोगों से दो ही नहीं, वरन् पूरे एक-सौ कदम आगे बढ़ गये हैं। भ्रमचारी जीकी बुद्धि ही औंधी हो गई। साहित्यिक परिभाषा को समझने-बूझने के लिए उन के अपने पास बुद्धि की गन्ध तक नहीं। भाई भ्रमचारी जी। अरे! अपने हानि-लाभ का ज्ञान तो, कीड़े-मकोड़ों तक को होता है। फिर आप ही खुद आगे आकर क्यों अपनी पोलें खुलवाते हैं। क्या सचमुच आप इतना भी नहीं जानते कि 'अस्तेयाणुव्रत' यह तो, गृस्थियों के बारह अणुव्रतों-मे से एक अणव्रत है। साधुओं के लिए 'महाव्रत' होता है; और गृस्थियों के लिए 'अणुव्रत'। अर्थात् महाव्रत की तुलना में आणुव्रत छोटा और उतना अधिक कष्ट-प्रद नहीं है। इस तीसरे महाव्रत को धारण करने वाले साधु लोग तो तृण का एक तिनका तक बिना किसी की इजाजत के ज़मीन पर से भी कभी

नहीं उठाते। किन्तु गृस्थियो के लिए, इतने कडे नियमों का निभाया जाना, यदि असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है। यही कारण है, कि सर्वज्ञ महाप्रभु ने पहले ही से उनके लिए, अस्तेयाणुव्रत को धारण करने की योजना कर दी है। जिस के द्वारा उन्हें 'राज दण्डे और लोक भण्डे' ऐसी बडी चोरी तो कदापि न करनी चाहिए।

भ्रमचारी जी! दाँतों को कुरेदने के लिए घास का तिनका, ज़मीन पर से बिना इजाज़त उठा लेने वाले गृहस्थी को न तो कोई राजा ही दण्ड देता है, और न वह लोक द्वारा ही कभी निन्दानीय समझा जाता है। और ऐसा कर लेने पर उसका अस्तेयाणुव्रत भी जैसे का-तैसा बना रह जाता है। इसी निष्कर्ष को मद्दे-नजर रखते हुए 'आदर्श-जीवन' मे ऐसा कहा गया है, कि 'गृहिस्थयो को ऐसी चोरी कभी न करनी चाहिये; जो दण्डनीय हो। अर्थात् राजा उसे दण्ड दे, और लोक मे उसे बुरा कहा जाय। 'दण्डनीय' शब्द का प्रयोग, यहाँ-राज-दण्ड के साथ है, न कि कर्म-बन्धन के साथ ग्रहस्थियों के द्वारा, निभाया जा सकने योग्य मोटी चोरी का त्याग ही, अस्तेयाणुव्रत के अन्तर्गत आ सकता है। परन्तु बिना इजाजत घास के तिनके को उठा लेने जैसी सूक्ष्म चोरी का त्याग तो अस्तेयाणुव्रत मे, किसी भी प्रकार से आ नहीं सकता। अगर ऐसी छोटी-छोटी चोरियों तक का समावेश, यदि भ्रमचारी जी के कथनानुसार इस के अन्तर्गत हो सकता है, तब तो क्यों भाई

भ्रमचारी जी ! आप के इस दिये हुए न्याय और राय के मुताबिक आप को, 'चोर' शब्द के द्वारा सम्बोधित करने-कराने मे कोई आपत्ति न होगी ? क्योंकि, घास के तिनके को बिना इजाजत जमी पर से उठालेने-जैसे सूक्ष्म चोरी से तो शायद ही कभी तुम वंचित रह पाते होगे ।

भ्रमचारी जी ! आप दूसरों के सत्य भाव को छिपा और उन के असत्य भावों को प्रगट कर के क्या, स्वयं ही चोर नहीं बने जा रहे है ? परलोक के खतरों का तो ज़रा कोई खौफ दिल मे तुम कभी रक्खो !

अरे भ्रमचारी जी ! तुम लिख रहे हो, कि—"श्री चौथमल जी धीमर, जुलाहे आदि जातियों के घरों से आहार लाते हैं।" अरे, ओ ! ऊल-जलूल लिखने वाले भ्रमचारी जी ! श्री चौथमल जी महाराज, आज तक न तो किसी धीमर, जुलाहे आदि जातियों के घरों मे भोजन लेने ही के लिये कभी गये; और न उन जातियों के घरों ही का कोई भोजन, कभी उन्होंने आज तक किया ।

भ्रमचारी जी ! तुम्हारे दिगम्बर नगे गुरु तो अवश्य ही सदोषी आहार करने लग पड़े है । वे अब न तो किसी आधेकर्मी आहार ही को छोड़ते हैं, और न किसी अभक्ष्याभक्ष्य ही को । उनके पेट की बलि-वेदी मे जा कर तो, सभी स्वाहा हो जाता है । यदि प्रमाण चाहिए, तो देखो, तुम्हारे ही पिट्ठू न्यामतसिंहजी ने, अपने द्वारा लिखित 'जन्म-सुधार' नामक

पुस्तक के पृष्ठ २३ पर लिखा है, कि—"हमारे आज-काल दिगम्बरी जैन, त्यागी भी होकर, अपनी मान-बड़ाई के कारण, अनुचित कार्य करते हुए कुछ खयाल नहीं करते। उन त्यागियों की बुद्धि भी अभक्ष्य भोजन ने उलटी कर दी।" अब कहिए, ब्रमचारी जी! निर्दोष भोजन से श्री चौथमल जी महाराज की बुद्धि विपरीत हुई, कि तुम्हारे इस घर ही के उपर्युक्त दृढ़ प्रमाण द्वारा अभक्ष्य भोजन से दिगम्बरी नंगे गुरुओं की बुद्धि बारह-बाट हो गई? पाठक-प्रवर! आप स्वयं ही निर्णय कर लीजिये, कि श्री चौथमल जी महाराज, वास्तविक-रूप से निर्दोष हैं, या दिगम्बरों के ये नंगे गुरु? प्रमाणों द्वारा, दोनों में से किसका आहार सदोष, और किसका आहार निर्दोष है?

दिगम्बर नंगे गुरुओं की बुद्धि दूषित और विपरीत हुई सो तो हुई, परन्तु न्यामतसिंह जी के कथनानुसार वे अनुचित कार्यों तक के पीछे उतर कर, बर्बाद भी होने लगे।

देखा, मित्रो! तभी तो उनके नंगे गुरुओं की मोर-पीछियों मे इकाइयाँ, दहाइयाँ और सैंकड़े कौन गिनावे? उनमे तो हजारों के नोट छिपे रहते हैं। यदि एक भी मोर-पींछी तुम्हारे हाथ लग गई, और घर मे लाकर, तुमने उसे झड़ा दिया, तो उसी घड़ी तुम्हारे जीवन की सारी नंगाई दूर हो जावेगी! तुम्हारी सारी दरिद्रता तुम से कोसों दूर भाग जावेगी! भाई ब्रमचारी जी! आप के नगे गुरुओं की धर्म-विहीनता का क्या कोई और भी सजीव प्रमाण चाहिए? इसीलिये हमारा आप

से बार-बार कहना है, कि आप ऐसे नंगे गुरुओं से सदा सचेत और सतर्क होकर रहे। ये लोग एक ओर तो, मुनि होने का दम भरते हैं, और ये ही लोग इस सभ्यता और शिक्षा के जमाने में, 'निष्परिग्रही' शब्द की आट ले-ले कर, कोपीन तक का धारण करना घोर पाप और अपने मुनिव्रत का अपमान समझते हैं। दूसरी ओर येही लोग महिला-समाज तक के सामने, नंग-धड़ग होकर, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर फिरते हैं। जहाँ भी कहीं ये आहार-पानी के लिये जाते हैं, अकसर देखा जाता है, कि उस घर में दूर-दूर के मुहल्लों की माताओं, बहिनों और बेटियों का एक खासा मेला-सा लग जाता है। अरे! एक ओर तो जिस युग में दो-दो वर्ष के बच्चे और बच्चियों तक को नंगे रखना, 'पाप' घोषित किया जाता है, दूसरी ओर उसी युग में दिगम्बर के इन नंगे गुरुओं के लिये उनके अपने गुह्य अंगों को ढाकने के अर्थ कोपीन तक की कोई लगाम नहीं रहती! यही तो एक बड़ा आश्चर्य है। अरे प्रकृति ने अपनी नंगाई को ढॅकने के लिये बनों को पेड़ और पौधे प्रदान किये; पर्वतों को घास-फूस और वन दिये; पानी को काँई की चादर ओढाई; चरिन्दों को बाल तथा पूँछें दीं, परिन्दों के लिये उसने पंखों का आविष्कार किया, पेड़ और पौधों को उसने पत्तों का हरा जामा पहनाया; और सूरज तथा चाँद की नंगाई को ढाँकने के लिये, किरणें उसने बनाई। क्या, इस प्रत्यक्ष सत्य को रोज़मर्रा आँखों से देखते हुए भी,

ये नंगे दिगम्बर गुरु अभी तक अपनी नगाई ही का राग अलापते रहेंगे? अरे, नगाई ही यदि तुम्हें प्यारी है, नंगाई ही के यदि तुम उपासक हो, और आगे के लिये भी बने रहना चाहते हो, तो खाली करो इन बस्तियों को और इन बड़े-बड़े आवासों को। और आबाद करो उन ऊसर भूमियों को, जो कुदरत की ओर से बिलकुल निर्जन तथा निर्जल रक्खी हैं।

भाई भ्रमचारी जी! एक ओर तो निष्परिग्रही बनने के लिये छटपटाते रहने वाले ये तुम्हारे दिगम्बर नगे गुरु इतना विशाल दिखावटी दिखावा रचते हैं; और दूसरी ओर इन्हीं की मयूर-पीछियों में से हजारों के नोट का, समय-असमय परिग्रह टपकता रहता है। ऐसे 'विष कुम्भम् पयो-मुखम्' वाली कहावत का निरन्तर चरितार्थ करने वाले, दिगम्बर नंगे गुरुओं को हमारा दूर ही से झुक-झुक सौ-सौ बार प्रणाम्।

आज-कल शास्त्र और नीति को ठोकर मार चलने वाले ईर्ष्यावश कल्पित मत और मजहबों का प्रचार करने वाले, असत्य-भाषण को कंचन के समान आलिंगन करने वाले, बगुला और चील की-सी वृत्ति रखने वाले नामधारी पेटू मुनि, अनेकों इधर-उधर फिरा करते हैं। ऐसे कपटियों का आदर करने से ठगों का गिरोह बढ़ता जाता है।

भ्रमचारी जी! श्री चौथमल जी महाराज तो, चोरी करने का समर्थन, कभी भूलकर भी नहीं करते। वरन् हाँ, वे चोर और डाकुओं को, उन्हें अपने सदुपदेशों के द्वारा चोरी

जैसे जघन्य कार्य से बिलकुल विरत अवश्य कर देते हैं।

अरे भ्रमचारी जी! लाला कन्नोमलजी के लिखे हुए श्लोक का तो हम भी सहर्ष अनुमोदन और समर्थन करते हैं। यही नहीं जो 'भद्रबाहु संहिता' का श्लोक है, वह राजनीति का है, उसे हम हृदय से अपनाते हैं! इन दोनों श्लोकों से, अस्तेयाणुव्रत की व्याख्या को राई-रत्ती-भर भी बाधा नहीं पहुँचती। जो भाव अस्तेयाणुव्रत का है, वही भाव इन दोनों श्लोकों का भी है। अस्तेयाणुव्रत का ऊहापोह तो हम पहले ही विस्तृत-रूप से कर कर चुके हैं। यदि तुम्हारे हीये की आँखें ज़रा भी अपना काम करती होंगी, तो उसे पढ़ और गुण कर तुम कुछ समझ ही जाओगे। भाई भ्रमचारी जी! अस्तेयाणुव्रत तो गृहस्थी ही का धर्म है। परन्तु अस्तेयाणुव्रत के दादा का दादा और उसके भी दादा का पर दादा; तुम्हारा स्वयं के घर में घुसा बैठा है। ज़रा आँखें खोल कर उसे देखो तो सही।

भ्रमचारी जी! तुम्हारे दिगम्बर नगे गुरु तो चोरी तक करलें, डाका तक डाल लें, हिंसा भी करलें, झूठ ऊपर से वे बोललें और स्त्रियों से व्यभिचार भी वे करलें, तब भी उन के महाव्रत नहीं टूटते! वे जैसे-के-तैसे अखंड बने रहते हैं। क्योंकि तुम्हारी दिगम्बर मत की 'चर्चा-सागर' मे लिखा है, कि 'अट्ठाईस मूल गुणों मे से; एक बार भंग करने पर, मूल गुण नष्ट नहीं होते।' इस पर भी तुर्रा यह कि 'कोई-कोई मूल गुण तो, अनेक बार भंग होने पर भी, सदा वैसे-के-वैसे ही

बने रहते हैं। वाह रे मजहब ! क्या खूब बनी है !! 'माल भी उड़ाना और वैकुण्ठ भी जाना !' फिर इन दिगम्बर नागाओं की फौज बरसाती नदी की भाँति न बढे तो हो क्या ? ढूँढ-ढाँढ कर क्या ही उत्तम नुस्खा निकाला है ! धन्य ! 'दुनिया लूटना मक्कर से, और रोटी खाना शक्कर से !' भ्रमचारी जी ! जिनकी बदौलत आपको भी रबड़ी और रसगुल्ले मयस्सर होते हैं, जरा उन आपके दिगम्बर गुरुओं की एक बार जय तो बोलो !

पाठको ! दिगम्बर समाज मे अभी तक जितने भी ब्रह्मचारी हुए हैं, उनमे से किसी एक को भी ऐसी असभ्यता युक्त पुस्तक के रचने का कभी कोई सौभाग्य नसीब नहीं हुआ, जैसा कि भ्रमचारी सुन्दरलालजी को हुआ है।

अरे भ्रमचारी सुन्दरलालजी ! देखो,तुम्हारे ही पिट्ठू टीकरी के न्यामतसिंह जी ने, अपनी 'भ्रम-निवारण' नामक पुस्तक के पृष्ठ ३ पर तुम्हारी क्या ही खूब महिमा गाई है ? लो जरा कान खोल कर सुन तो भला लो ! वे लिखते हैं; कि 'अब पचीस वर्ष से जो कुछ नामधारी पडित ब्रह्मचारी, और त्यागी हुए हैं, विद्या-भूषण, धर्म-दिवाकर, स्याद्वाद-वारिधि न्याय-तीर्थ , इत्यादि अलकारो से भूषित कर दिये गये। नतीजा, कितनेक पंडित, ब्रह्मचारी अलकारी होकर, विधवा-विवाह को जो जैन-धर्म, जाति, वर्ण को कलकित करनेवाला है, जैन-सनातन के नाम से जारी कर दिया।"

सज्जन पाठको ! हम पहले तो न्यामतसिंहजी की उपर्युक्त

बजर-बट्टू-जैसी हिन्दी-भाषा की ऊबड-खाबड़ रचना की ओर आप का ध्यान आकर्षित करेंगे। तब, उन की सात्तरता की परीत्ता करने के लिए आप से प्रार्थना करेंगे। एक ओर तो इस बीसवीं शताब्दी के, साहित्यिक-उन्नति के युग मे विश्व के कोने-कोने में हिन्दी-साहित्य का रूप परिष्कृत और परिवर्तित हो रहा है। और दूसरी ओर टीकरी की किसी टपरिया मे बैठ कर, न्यामतसिहजी पअने टट-पूँजिये अनुभव के बल पर, टूटी टाँग और फूटे सिर-वाली भाषा लख रहे हैं। ऐसे गॅदले, अश्लील, अंड-बंड और अनुभव शून्य साहित्य के सिरजन से; संसार मे न मालूम, कौन-कौन सी सड़ानें पैदा होंगी, समय इस बात को, उसके उपयोग की कसौटी द्वारा शीघ्र ही ठीक-ठीक सुझा देगा।

भ्रमचारीजी! स्थानकवासी साधु तो बयाँलीसों दोषों को टाल कर, बिलकुल शुद्ध आहार जो होता है उसी को लाते हैं। और पूरे-पूरे अड़तालीसों दोषों को टाल कर वे भोजन करते हैं। यूँ पाँचों समिति, और तीनों गुप्तियों के साथ अपने संयम का पालन वे कर रहे हैं। परिग्रह को, वे पाप समझते हैं, और सदा से पाप समझते आये हैं। ऐसे साधु पहले थे, आज हैं, और भविष्य मे भी होते रहेंगे। क्योंकि उन के शास्त्र, उनकी शित्ता, उनकी दीत्ता, उनकी संस्कृति, और उनके आस-पास का सारा वायु-मंडल ही, इसी प्रकार के अणुओं और परमाणुओं से बना हुआ है। जिस प्रकार दिगम्बर समाज के नंगे गुरू कमंडल और मोर-पींछी को परिग्रह के रूप मे न मानकर, सदा-सर्वदा, अपने पास

ही रखते हैं उसी प्रकार स्थानकवासी मुनिगण भी, केवल संयम-पालन-मात्र के लिए रजोहरण, पात्र, और वस्त्रादि उपकरण-मात्र, अपने पास और साथ मे रखते है। अब यदि उन स्थानकवासी मुनियों के वस्त्रों का परिग्रह मे शामिल किया जाता है, तो कमडल और मोर-पींछी भी परिग्रह ही है, और होना भी चाहिए। भ्रमचारीजी ! भला यह तो हो भी कैसे और क्यों, सकता है, तुम्हारे नंगे गुरूओं के कमडल और मोर-पींछी तो परिग्रह मे परिगणित नहीं होते, और स्थानकवासी साधुओं का वस्त्र रखना परिग्रह मान लिया जाता है ? क्या न्याय और सम-दृष्टि इसी का नाम है ? अगर इस भेद का अभाव नहीं होता, तब तो यह सोलह आना पक्ष-पात और अन्याय मात्र है। इस अन्याय-पूर्ण और पक्ष-पात युक्त नीति को विद्वान तो क्या एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति तक मानने के लिए उतारु नहीं हो सकता। इस पर यदि कोई पूछे कि 'दिगम्बर नगे गुरुओं के पास तो केवल कमण्डल और मोर, पीछी ही होती है, और स्थानकवासी मुनियों के पास उपकरण अधिक रहते हैं।' इसके उत्तर मे हम उन्हें कहते हैं, कि तुम्हारे इस थोथे कथन से मतलब कौन-सा हल हुआ ? क्या थोड़ी वस्तुओं मे परिग्रह नहीं ? और अधिक उपकरणों मे परिग्रह पैदा हो गया ? इसपर भ्रमचारी जी ! हम तुम्हीं को पूछते हैं, कि कल खुदानाख्वास्ता थोड़ी-सी नाक किसी की कट जावे तो क्या तुम उसको नकटा मानोगे ? या जगत उसे नकटा न कहेगा ? भाई ! सच बात तो यह है, कि "जैसे थोड़ा

वैसे घना।" एक ही जाति की वस्तुओं में एक बड़ी यदि साँप है, तो दूसरी छोटी भी साँप ही होगी निष्कर्ष यह निकला, कि अधिक को तुम परिग्रह यदि मानते हो तो फिर थोड़े को भी तुम्हें अवश्य ही परिग्रह मानना पड़ेगा। हम थोड़ी देर के लिए, यदि आप ही के कथन को कसौटी पर लगा कर देखें और उसके अनुसार कमंडल और मयूर-पींछी से भी अल्प भार वाली तथा छोटी-सी वस्तु हज़ारों के नोट ही को ले लें, तो आपकी निगाहों में तो वे परिग्रह हो ही न सकेंगे। कदाचित् इसी कारण से आप के दिगम्बर नंगे गुरु ने अभी-अभी एक दिन पूरे-पूरे बीस-हज़ार के नोट मयूर-पींछी में छिपा कर रख लिये थे। फिर यदि तुम कहो कि वस्त्र आदि को तो सँभालना पड़ता है। उनकी चिन्ता बनी रहती है। इसीलिए वस्त्र परिग्रह में परिगणित किये गये हैं। तो क्या कमंडल और मयूरपींछी को सँभालना नहीं पड़ता? क्या सँभालने की सम्पूर्ण शर्तें उनके लिए लागू नहीं पड़ती? कदाचित् उन्हें तो आप के नगे गुरु लोग सदा-सर्वदा आकाश ही मे या अधर ही मे अटका कर रख देते होंगे? क्यों भ्रमचारी जी! कमंडल कभी फूट न जाय, इस की चिन्ता तो तुम्हारे नगे गुरुओं को फिर होने ही क्यों लगती होगी? मयूर-पींछी भी कहीं उड़ न जाय, यह बात भी वे कभी क्यों सोचने बैठते होंगे? भ्रमचारी जी! दो-चार दिन अपने उन नंगे गुरुओं के दर्बार मे जाकर रात-दिन वहाँ रहो। तब देखो कि कमंडल को किस सँभाल के साथ, वे ज़मीन पर रखते हैं।

मयूर-पींछी के पींछे उनकी कितनी अधिक ममता होती है! इन दोनो वस्तुओं को वे कितना अधिक अपने पास सदा रखते हैं! और जहाँ भी कहीं, दो डग इधर-से-उधर चे जाते हैं, तो कैसे अदर और लचक के साथ; इन दोनों वस्तुओं को, वे अपने साथ-ही-साथ, लेकर चलते हैं! इतना समझा चुकने पर भी, यदि आप का खोपड़ा, कुछ भी समझ न पाया हो, और फिर भी वह यह राग अलाप उठता हो, कि "वस्त्र, मोक्ष मे बाधक होते हैं।" इस पर हम तुमसे पूछते हैं, कि तब क्या कमंडल, मयूर-पींछी, और शरीर मोक्ष मे बाधक नहीं बनते? भ्रमचारी जी महाराज! जैसे वस्त्र, वैसे ही कमंडल और मयूर-पींछी, और वैसा ही शरीर है। इस वाद-विवाद मे तो, तुम हर प्रकार से अपने मुँह की ही खाओगे।

आगे चल कर, भ्रमचारी जी ने जाट, गूजर, और राजपूतों को नीच जाति के बता कर, उन कोमों की बड़ी भारी तोहीन की है। इस कथन से, वे जातियाँ तो नीच बन नहीं गई, और न बन ही सकती हैं, परन्तु हाँ, इस से, भ्रमचारी जी ने अपने आप को नीची जाति का होना, तो अवश्य सिद्ध कर दिया। क्योंकि; जो जिस किसी भी संस्कृति और वातावरण में पला-पुसा और जन्मा होता है; उसे उसी सस्कृति और वातावरण की बातें तो याद आती रहती हैं। क्योंकि उस के अन्तःकरण पर, उन्हीं का तो ट्रेड मार्क (Trade-mark) लगा रहता है। अरे भ्रमचारी जी! तुम्हारे जितने

भी तीर्थंकर हुए हैं; वे सब-के-सब क्षत्रिय वंश; राजपूत तो थे ही तब तो तुमने राजपूतों को क्या नीच बनाया, अपने क्षत्रिय वंशी राजपूत तीर्थंकरों तक को नीच साबित कर दिया। तुम्हारी अकल की क्या-क्या; और कितनी तारीफ कोई करे ! भाई ! तुम अपने आप को अपनी अन्धी आँखों से कुछ भी देखते और समझते रहो, परन्तु तुम्हारे ऐसे-ऐसे महान् आश्चर्य-जनक आदि प्रकार के कामों से संसार तो तुम्हें बीसों-बिस्वा 'घोंघा-बसन्त' और 'बुद्धूमल' तथा 'चौपट्टानन्द-भारती' ही समझते हैं। अरे भ्रमचारीजी तुम्हारी दिगम्बर समाज की पुराणों में उसी क्षत्रिय जाति को उच्च-जाति की बतलाया गया है, जिसे तुम नीच बता रहे हो। पर यह तुम्हारी धृष्टता और हठ-धर्मीपन नहीं तो और क्या है ? अरे, भूले-चूके भी तो कभी उन क्षत्रियों के घरों में जा कर देखो ! आज उन घरों में से कई घर तुम्हें ऐसे मिलेंगे, जिन में से पशु-वध और मांसाहार की परिपाटी बिलकुल ही उठ गई है। और थोड़े-बहुत घरों में मांसाहार यदि कहीं किया भी जाता है तो भी उनके सारे बर्तन और चौके-चूल्हे, उस सम्बन्ध के बिलकुल ही अलग-थलग रक्खे जाते हैं। जिन बर्तनों में और चौके-चूल्हों पर मांस पकाने का काम किया जाता है, उन में दाल—भात आदि तो कभी नहीं पकाये जाते। परन्तु तुम लिख रहे हो, कि एक ही बर्तनों में, ये सब काम होते रहते हैं। भ्रमचारी जी ! यह तो महज तुम्हारी अज्ञता का सूचक है। और झूठ भी ऐसा जिसका कोई ओर-न-छोर !

जैसा तुमने लिखा है, वैसी कु-क्रिया से बना हुआ भोजन स्थानकवासी साधु न तो कभी लाते ही हैं, और न कभी खाते ही हैं। इस मिथ्या और अविचार-पूर्ण कथन से तो तुम खुद ने अपने ही मुँह पर अमिट कालिमा पोतली है। धन्यवाद! तुम्हारी यह बुद्धि और यह विचार तुम्हीं को नसीब हों।

आगे भ्रमचारी जी ने लिखा है, कि 'स्थानकवासी साधु लोग, धीमर, काछी, जुलाहा आदि जातियों के यहाँ से भोजन लाते हैं।' ज्ञात पड़ता है, भ्रमचारी जी की स्वर-लहरी में: वात-पित्त-कफ का वायु गोला फँस गया है। अतः उनके मन में जो भी कुछ आ जाता है, उसे वे जबान के द्वारा, बोल देते हैं। भ्रमचारी जी! स्थानकवासी साधु लोग धीमर; काछी; जुलाहा आदि जातियों के यहाँ से भूल कर भी कभी भोजन नहीं लाते। परन्तु तुम भी क्या करो, इस में तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह तो तुम पक्षपात की अवस्था के कारण अंट-संट अपने मुँह से फाँक देते हो यदि तुम सच्चे होते तो एक दो प्रमाण तुम्हें वहाँ पेश कर देने चाहिए थे। जिसके द्वारा संसार को ज्ञात तो हो गया होता, कि अमुक साधु ने अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति या जाति के यहाँ से भोजन लिया था, या लिया है। भ्रमचारी जी! चलो इधर नहीं तो तुम्हारी ही ओर सही। चमड़े की जुबान है पलटने में समय कितनाक लगता है! एक ओर भेदा-भेद की वारुणी वाला सैंकड़ों बोतलों का नशा आप को चढ़ा हुआ है। और दूसरी ओर ऊपर से तुम्हारे

भ्रमचारीपन के विच्छू ने तुम्हें काट खाया है ! इस अवस्था में कहना तो था, आपको अपने नंगे गुरुओं के सम्बन्ध मे, और कह गये वह बात स्थानकवासी साधुओं के सम्बन्ध मे ! महाराज कदाचित् तुम्हारे दिगम्बरी नंगे गुरु ही ऐसी वैसी जातियों के यहाँ से भोजन लाते होंगे ! तभी तो तुम्हारे मुनि सूर्यसागर-जी, एक दिन अलीगंज नगर में आम जनता को उपदेश फर्मा रहे थे, कि शूद्र यदि श्रावकाचार पालता हो और वह शूद्र भी होय तो भी उसके यहाँ साधु आहार ले सकता है । शूद्र ही नहीं चॉडाल तक धर्म का पालन कर सकता है।

पाठको ! और भी देखिये । दिगम्बर नंगे गुरुओं के लिए नीच जातियों के यहाँ, आहार पानी लेने की बात मूलाचार के अनगार-भावना के नौवें समुद्देश की छत्तीसवीं गाथा मे खुल्लम खुल्ला कहा गया है। उसे देख और पढ़कर भ्रमचारी सुन्दरलालजी जैसे पुरुषों को, ईर्ष्या की आगी से धधकते हुए अपन हृदय-कुंड को जरा शान्त कर लेना चाहिए। अब रह जाता है, बिन छने पानी की वात सो भ्रमचारी जी ! अनेकशः जैनेतर लोग भी स्वास्थ और स्वच्छता की बात को मद्दे नजर रख कर, पानी को छान कर ही अपने काम मे लाते है। फिर भी इस सम्बन्ध मे, और भी अधिक गम्भीर विचार किया जाय, तो यही निष्कर्ष निकलता है, कि पानी को एक वार तो क्या, दो-चार वार छान लेने पर भी, उस मे सूक्ष्म त्रस-जीव रह ही जाते हैं । हमारे इस कथन की सचाई को, खुले हुऐ सूरज के

इसलिए वह अपनी सूई की खोज में बाहर सड़क पर जहाँ प्रकाश का यथेष्ठ प्रबन्ध था; इधर-उधर आँखें गड़ाकर देख-भाल करने लगी। राहगीरों ने उस की खोज का कारण पूछा। बेचारी ने अपने घर ही में सूई के गुम जाने की बात सच २ कह दी। तब उन लोगों में से एक ने कहा अरी अम्मां तू कितनी भोली है, कि सूई तो गुमी तेरे खुद के घर में; और ढूँढती तू उसे है सड़कों पर! इस पर वह बोली! बेटा! करूँ क्या, घर में अन्धकार का अटल राज छाया हुआ है। तब बाहर ही के प्रकाश में कुछ छान-बीन करके किसी तरह दिल को तसल्ली देना मैं ने उचित समझा।' भ्रमचारी जी बात ठीक ऐसी हुई। अपने घर का सूतक का विचार तो तुमने राई रत्ती-भर किया नहीं; और टूट पड़े स्थानकवासी साधुओं पर जब तुम्हारे दिगम्बर नंगे गुरु किसी गाँव में पहुँचते हैं और वहाँ तब एक घर में नहीं पचासों घरों में जो महारम्भ द्वारा भोजन उनकी आव-भगत में बनाया जाता है, उस में डालने के लिए किसमिस, बादाम, पिश्ते, इलायची, उन्हें जहाँ से मिलते हैं, क्या कभी इस बात का भी विचार तुम ने किया है? भाई भ्रमचारी जी! यह सारा सामान वे वहाँ उन दुकानों से लाते हैं जिन के मालिक होते हैं वोहरे और मुसलमान। जो सूतक और सूतक के पाप को कभी भूलकर भी नहीं समझते। उनके यहाँ तो यह रिवाज होता है, कि जब कभी वे किसी मुर्दे को दफनाने जाते हैं, अपनी नई पोशाक पहन कर वे जाते हैं। और वहाँ से आ-आकर वे

सीधे अपनी-अपनी दुकानों पर बैठ जाते हैं। मुर्दे को दफ़नाने के बाद नहाना-धोना तो वे कभी जानते ही नहीं। और न कभी वे उस समय करते ही हैं। तब दुकान मे बैठकर वे अपने २ व्यापार मे लग पड़ते हैं। इसी प्रकार बाज़ारों मे से साग-सब्ज़ी ख़रीदते समय तुम्हें या तुम्हारे दिगंबर भाइयों को यह विचार नहीं रहता, कि पहले तो वे लोग हैं ही किस जाति-पाँति के! और फिर उन मे जो बेचने वाली औरतें होती हैं, वे रजस्वाला हैं या नहीं! क्योंकि उन बेचारी ग़रीब जातियों में इन बातों का कोई परहेज़ यदि रक्खा जाय तो उन्हें रोटियाँ भी नसीब न हो सकें। भ्रमचारी जी! ये सब बातें तो बहुत परे की, और घर के बाहर बाज़ार की रही। परन्तु अभी तो आपके दिगम्बर घरों ही मे न जाने कौन-कौन-से घोटाले भरे पड़े हैं! उन मे से एक अति प्रसिद्ध घोटाल तो यही है, कि आपके दिगम्बर घरों की महिलाएँ अशुद्ध हैं। कदाचित् इस बात को सुनकर आप आग-बगोला हो उठें। पूछें कि यह कैसे? तो इस के लिये हम आप ही के घर का एक ताज़ा प्रमाण पेश किये देते हैं। लीजिये, आपके दिगम्बर न्यामतसिंह जी ही ने अपनी 'भ्रम निवारण' पुस्तक के पृष्ठ १२-वें पर लिखा है कि—'स्त्री हमेशा अशुद्ध मास-भर और रजस्वाला होती है।' तब तो क्यों सुन्दरलाल जी! ऐसी सदैव अशुद्ध रहने वाली औरतों के हाथ का भोजन ग्रहण करने वाले तुम्हारे दिगम्बर नंगे गुरु भी सदा अशुद्ध ही बने रहते होंगे न? भाई! यह तो ठीक नहीं। किसी भी प्रकार ठीक नहीं। जो लोग अपने

आप तक को शुद्ध इतने काल तक बना सकने में असमर्थ रहे, वे परायों की शुद्धि और आत्मोन्नति का ठेका तो ले ही कैसे और क्यों सकते हैं ! भाई भ्रमवारीजी ! तब आपने अपनी स्वयं की और अपने नगे दिगम्बरी गुरुओं की शुद्धि का भी कोई उपाय सोचा-समझा है ? ऐसा विलम्ब तो अब अधिक समय तक न करो। क्योंकि आपके इस अशुद्ध अन्न का असर आप लोगों की बुद्धि पर पड़ता है। उस बुद्धि का असर, आप के कामो पर झलकता है और उन कार्यों की छाया आपके समाज पर पड़ती है। जैसा कहा भी है, कि—"जैसा खावे धान, वैसी आवे शान।" और "जैसो खावे अन्न, वैसो होते मन्न।"

अरे भ्रमवारीजी ! क्या, तुम्हारे दिमाग़ मे यह तक पैठ न पाया, कि जब तक कुल्हाड़े के साथ, लकड़ी का बेंट (बैंसा) नहीं मिल जाता, तब तक वह कुल्हाड़ा, बन के किसी छोटे-से-छोटे झाड़ तक का काट-गिराने मे, तनिक भी सफल हो नहीं सकता ? भाई ! यह घर-फुडाव्वल का काम क्यों और कब तक करते रहोगे ! अरे, स्थानकवासी साधुओ के सम्बन्ध में कन्द-मूल लहसन प्याज आदि खाने का सवाल उठा रहे हो। पर क्या भ्रमवारीजी ! तुमने कभी तुम्हारा घर भी देखा है ? या नहीं। देखो तुम्हारे दिगम्बरी नंगे गुरु को कन्द-मूल खाने के लिए, दिगम्बरो मूलाचार के अनगार भावनाधिकारवाले नौवें समुद्देश की गाथा ५७-५८ के द्वारा, खुली परमिशन (हुक्म) मिल चुकी है। देखिये——

फलकन्दमूलबीजं अणग्गिपक्कतु आमयंकिची।
णच्चा अणेसणियं णविपयपडिछंति धीरा॥ १॥
जंहवइ अणिब्बीयं णियीट्ठीमंफासुयकयचेव। २॥
णाउणएसणीयं तंभिखुमुणी पडिछंति॥

अर्थात् कन्द, मूल, बीज इत्यादि यदि प्राशुक हों, तो मुनि लोग ग्रहण करते हैं। भ्रमचारीजी! अब बोलिये कन्द मूल और बीजों के ग्रहण करने मे, अब कौन-सी वनस्पति बच रह जाती है! क्या, फिर भी आलू, शक्करकन्द, मूला, लहसुन, प्याज, शलगम और अरबी का कोई सवाल आप का शेष रह जाता है?

भ्रमचारी जी! पहले अपने घर को टटोलो, उस के कोनों को देखो-भालो, उस के बर्तनों को झाड़-पोंछ कर साफ करो, और तब पता लगाओ कि, दिगम्बरों के नगे मुनियों के लिये, दुनिया भर की, किन-किन वस्तुओं तक को खाने का पट्टा उन्हें लिख दिया गया है। हाँ, माना कि वे प्राशुक ही ग्रहण करते हैं। तो फिर, स्थानकवासी साधु भी तो प्राशुक ही ग्रहण करते हैं! प्रश्न तो यह तब ही उठ सकता था, जब आलू वगैरह को अप्राशुक अवस्था ही मे वे कभी ग्रहण करते-कराते। भ्रमचारी जी आपने स्थानकवासी साधुओं की भाषासमिति के लिए छान-बीन की है। पर ज़रा थोड़ी देर के लिये दिगम्बर नंगे गुरुओं के सम्बन्ध मे भी तो सिंहाव-लोकन कर जाइये। आप को एक किस्से पर से ही पता लग सकता है। एक कहता है, कि अरहर की दाल खाना

अत्यन्त उपयोगी और अच्छा है। दूसरा कहता अरहर की दाल तो कभी नहीं खानी चाहिए।

सच है, दिगम्बर नंगे मुनि अकसर अपढ़ होते हैं। हाँ, भाई भ्रमचारी जी! तभी तो ये लोग भाषा समिति पर क्या विचार रख सकते हैं! क्या भ्रमचारी जी! ज़रा "त्याग-मीमासा" नामक पुस्तक के पृष्ठ ६ और ७ को देखने का कष्ट उठावेंगे? देखये, वहाँ आप ही के समाज के माननीय पंडित दीपचन्द जी वर्णी लिखते हैं, कि—"साधु (दिगम्बरी मुनि) हो कर भी (ये लोग) २८ मूल गुणों तक के नाम नहीं जानते हैं। बालबोधक चार भाग या छः ढाला तो, इनके लिये गोमट्टसार राजवार्तिक व समयसार है। भला सोचो तो ये व्यक्ति, सम्यक् चारित्र्य का पालन भी तब क्या कर सकेंगे!"

भाई भ्रमचारी जी! हम से क्यों कहलवाते हो! अब तो तुम स्वयं को भी, हमारे कारण ज्ञान हो गया है, कि दिगंबर नंगे मुनियों के खान-पान के लिये कितना बड़ा आरम्भ होता है! कितनी हिंसा होती है! उतने महान् आरम्भ द्वारा बनाया हुआ भोजन उन मुनियों के लिये अभक्ष्य है या नहीं? ज़रा छाती पर हाथ रख कर एकान्त मे सोचिये और विचारिये तो सही, कि तुम्हारे ये नंगे मुनि भिक्षा-शुद्धि का पालन कहाँ तक करते हैं? फिर इन को भाषा-समिति के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान तो होगा ही कैसे? जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। अतः अब तो यह भली प्रकार सिद्ध हो गया न, कि तुम्हारे

नंगे गुरुओं में न तो भिक्षा-शुद्धि ही है, और न भाषा-शुद्धि ही ?

पाठको ! इन दिगम्बर जैन-गुरुओं की भिक्षा-शुद्धि पर जरा एक बारगी फिर से ध्यान दीजियेगा। ये दिगम्बर नगे गुरु गृहस्थियों के घरों मे जा-जाकर खीर और हलुवे पर हाथ साफ करते हैं। मगर इन पक्वान्नों मे जो शक्कर डाली जाती है, उसकी रचना-विधि पर भी हमारे ब्रमचारी जी ने कभी अपने दिमाग को कष्ट देने की कोशिश की है ? अच्छा ब्रमचारी जी ! तुमने न सोचा हो तो न सही हम ही तुमको उस शक्कर की रचना-विधि के कुछेक नमूने का नज्जारा दिखाये देते हैं। देखिये पहले तो गन्ने को खेतों से काटते हैं। तब उन्हें गाड़ियों पर लाद कर शुगर-मिल्स में लाया जाता है। वहाँ तब उनका रस निकाला जाता है। उसी रस से तब राब, राब से काकब, काकब से गुड, गुड़ से खाँड और खाँड से फिर शक्कर बनाई जाती है। इसमें आदि से अन्त तक मजदूर ही तो काम करते हैं। ब्रमचारी जी ! कोई आप तो मजदूर बन कर भट्टी झोंकने को वहाँ जाते नहीं ! उन मजदूरों मे सभी जाति-पाँति के लोग होते हैं। चूड़े (भंगी) और चमार तक उनमें काम करते हैं। ब्रिटिश इलाकों के राम-राज्य में तो भेदभेद की कोई बात भी नहीं। उन्हीं मजदूरों के अंग प्रत्यंग सभी का समय-समय पर उस शक्कर के साथ संयोग होता है। कभी तो वे इसे या इसके किसी भी रूप को पैरों तले रौंधते हैं और कभी अपने मुँह की गर्म भाप को

उसमें मिलाते हैं। यही क्यों ? पेशाब, पानी, टट्टी फराकत भी तो बीच-बीच में सभी काम वे करते ही रहते हैं। वहाँ भ्रमचारी जी, आप कोई चौकीदार तो बनकर बैठे नहीं रहते। जो इन कामों को उन्हें करने ही न दें ? बाल-बच्चे भी उन मजदूरों के साथ पास में रहते ही हैं। उनका हँगना-मूतना भी साथ मे लगा ही रहता है। वे ग़रीब मज़दूर क्या जाने चौके-चूल्हे की रीति-नीति को ? उनके यहाँ तो सभी चढ़ता है। और सभी चलता है। वे बेचारे जैसा भी मौक़ा देखते हैं, अपने गॅदले मैले-कुचैले हाथ-पैरों आदि से अपने काम मे जुट पड़ते हैं। बीच-बीच मे वे ही लोग गुड़; खाँड, शकर आदि को खाते भी रहते हैं। तब तो गर्मागर्म होने के कारण मुँह से उनके लारें भी टपक-टपक कर उसी में गिरती रहती हैं। क्यों भ्रमचारी जी। बस तब तो इसी सफाई पर नाचते थे न ? वाह भाई ! 'गुड़ तो खाना, पर गुलगुलों से परहेज़ करने' की बात तो क्या ही खूब रही ! भ्रमचारी जी। ऐसी अशुद्ध और गॅदली शकर की बनी हुई वस्तुओं को तुम्हारे नंगे गुरु कैसे लपालप उड़ा जाते हैं। कहो उस समय तो वे किसी भी प्रकार का कोई परहेज़ नहीं करते। भाई। परहेज़ करें भी तो क्यों ? और कैसे ? इन बातों का विचार; कभी उन्होंने किया तो रसगुल्ले, हलुआ और खीर खाने को नसीब भी उन्हें कब और कैसे हो। पाठको ! अब ज़रा आप ही बताइये; कि इन दिगम्बर नंगे मुनियों की भिक्षा शुद्धि कैसी ? फिर मौक़ा हाथ

आते ही ये दिगम्बर नगे गुरु अगूर और ईख सन्तरे और मौसम्बियों का रस भी तो काफी तादाद में टूट-टूट कर पीते रहते हैं। भ्रमचारी जी! क्या तुम्हें और तुम्हारे नंगे गुरुओं को यह नहीं मालूम कि इन अगूर की वेलियों और मौसम्बियों के पेड़ो में जैसा कि सुना और पढ़ा जाता है, कि अकसर करके मरी हुई मछलियों और खून का खाद दिया जाता है? इसी प्रकार सन्तरे तथा ईख को क्रमश हड्डियो के बुरादे और आदमियों के केशरिया पाक (मैले) का खाद पहुँचाने मे; ये बहुत ही अधिक फलते-फूलते और रसदार बनते हैं। वाहरे आदर्श त्याग-वीर (?)! भ्रमचारीजी! तुम इन वस्तुओं को शुद्ध और प्राशुक क्यों न समझो भाई! क्योंकि इन्हीं के तो आधर पर, तुम्हारे दिगम्बर नगे गुरु रहते हैं। फिर, हलवाई के यहाँ की कितनी ही शुद्धता पूर्वक बनी हुई मिठाई तथा दूध पर, जो आक्षेप तुम, या तुम्हारे नगे गुरु उठाते रहते हैं, वह ठीक ही है। क्योंकि कितना ही क्यों न करो मिठाई आखिरकार मिठाई ही है! और मौसम्मी तथा अंगूर के रस की तो बात ही क्या कहना! वह तो संसार की सार वस्तुओं मे से एक भोगियों के भोग की प्रधान वस्तु और अमृत-तुल्य है। दूसरे मिठाई तथा दूध को यदा-कदा श्वेताम्बर मुनि लोग ग्रहण करते रहते हैं। अत. द्वेशवश इन्हें बुरा-भला बताना इनपर भाँति-भाँति के आक्षेप उठाना तुम्हारे जैसे महा-पुरुषों के लिए एक परम स्वभाविक ही-सी बात है! कुछ भी हो!

पर भाई ! पहले अच्छा तो यही होता, कि तुम अपने ही घर के कोनों को टटोल लेते। पर तुम्हारी यह टेव ही नहीं। अपने घर को तो तुम चौपट्ट छोड़ कर परायों के घरों को ताकने के लिए निकल पड़ते हो। दिगम्बर अपने भगवान् को बजार की बनी हुई मिठाइयाँ चढ़ाते हैं। क्यों जी इस समय तुम्हें कोई आपत्ति क्यों नहीं होती ? हाँ, शायद, इसी से, श्वेताम्बर मुनियों पर, इस के लिये आरोप लगा-लगा कर, "भट्टजी भट्टे खावें, दूसरों को पथ्य करावें" वाली कहावत का चरितार्थ तुम कर रहे हो। धन्य !

स्थानकवासी साधु लोग, गृहस्थियों के घर बैठ कर, या उन्हें कह कर अपने लिए न तो कोई वस्तु कभी बनवाते ही हैं और न ऐसी वस्तु को कभी लाते तथा खाते ही वे हैं। परन्तु ऐसी बिना सिर-पैर की हाँकना, ब्रमचारीजी की आदत की लाचारी-मात्र है। वे भी क्या करें, जो बात उन्हें उन की जीवनबुटी के साथ पिलाई गई है, और जिसे उनकी नस और नाड़ियों में उतार दी गई है उसे वे भूल और छोड़ भी तो कैसे सकते हैं ! ब्रमचारीजी ! इसी प्रकार, स्थानकवासी साधु, न तो किसी स्थानकवासी गृहस्थी को कभी वदनी तथा सट्टा ही बतलाते हैं और न वे कभी सट्टे की आमदनी करवा के किसी प्रकार के वस्त्र ही उससे मँगवाते हैं। हमारे स्थानकवासी साधु न कभी, किसी से पंखा ही खिंचवाते हैं और न कभी कोमल-कोमल गद्दों ही पर वे पैर रखते हैं। तब उन पर सोने की बात तो कोसों परे रही। न वे अपने भक्त और भक्तानियों से अपने पाँव ही कभी

दबवाते हैं। परन्तु साधुओं के कर्तव्यों के विपरीत जो-जो, और जितने भी काम नहीं करने के हैं उन-उन सम्पूर्ण कामों के करने का अपराध तुमने उन स्थानकवासी साधुओं पर मढ़ा है। इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं। अपराध यदि किसी का है तो तुम्हारे दकियानूसी दिल का, तुम्हारे द्वेष-पूर्ण दिमाग का, नंगों की संगति में रह कर उनसे सीखी हुई नंगी रंगाई-मात्र का है।

भ्रमचारीजी! तुम्हारे इस उपर्युक्त कथन की निस्सारता और झुठाई तो स्वयं तुम्हारी ही लेखनी से जग-जाहिर हो रही है। यदि सच्चे तुम थे तो दस-बीस ऐसे प्रमाणों को भी अवश्य ही यहाँ पेश कर देते। अजी! दस-बीस को कौन चलावे, दो-चार ही प्रमाण, अपने कथन की सचाई में यहाँ लिख दिये होते तो भी अपने पाठकों को कुछ तो भरोसा हो ही जाता। अजी भ्रमचारीजी! स्थानकवासी साधु अपने जीतेजी तो कभी भूलकर भी अपने साधु-धर्म से विपरीत बर्ताव नहीं करते। और यदि किसी पर भूले-भटके कोई रत्ती-भर शक-तक भी किसी पर हो पाया तो उसे वे अपने समाज में से उसी प्रकार निकाल कर अलग पटक देते हैं, जैसे घी में से मक्खी को। भ्रमचारीजी महराज(?)! स्थानकवासी साधुओं का स्त्रियों से पाँव दबवाना तो करोड़ों कोस दूर की बात रही। अजी वे उन्हें अपना पैर छुआना तक तो घोर पाप समझते हैं। और यदि भूल से कभी कोई माता या बहिन उन के पैर को छूले, तो वे इसे घोरतम पाप समझ कर, उपवासों के द्वारा उसका तत्काल ही प्रायश्चित्त भी

कर लेते हैं। हाँ स्थानकवासी साधुओं को अपने पैर, स्त्रियों से छुआने की बात सुझा कर तो तुमने सचमुच ही एक बड़े भारी पते की बात कह डाली। वह यह, कि तुम्हारे नंगे गुरु तो स्त्रियों को अवश्य ही छूते रहते हैं। आहार कर चुकने के बाद स्त्रियाँ, तुम्हारे उन दिगम्बर नंगे गुरुओं के शरीर को धोती हैं। पैरों को धोती-धोती वे जंघाओं और पेट तक को धो जाती हैं। भ्रमचारीजी उस समय दर्शन-पर्सन के लिए इधर-उधर के मुहल्लों की और भी कई महिलाएँ वहाँ जमा होती रहती हैं। विचारशील पाठको! जरा, अपने दिल पर हाथ रख कर, आप एकान्त मे विचारिये कि उस अबोध और भोले-भाले स्त्री-समाज के मानसिक भावों में कैसा भयंकर ज्वार-भाटा (चढ़ाव और उतार) उस समय आता होगा। जबकि वे घरों के भीतर, एक नंगे मुनि के शरीर को देखती होंगी, उस को वे धोती होंगी और प्रवीण पाठको! साधु होकर के भी स्त्रियों से अपने नंगे अंग-प्रत्यंगों को पहले तो छुआना ही घोर पाप है फिर उन्हें धुलाना तो कितना भयंकर पातक समझा जायगा, इसका हिसाब तो अनुपात और समानुपात द्वारा आप स्वयं ही निकाल लीजिये।

भ्रमचारी जी ने "ये विषय-भोग मे रक्त साधु" लिख कर के तो अपनी अक्ल को अजीर्ण हो जाने का पूरा-पूरा परिचय दे दिया है। ऐ भ्रमचारीजी! स्थानकवासी साधुओं के त्याग, धर्म-परायणता, का तुम्हें पता भी कैसे लग सकता है! अरे! वे चलते-चलते तो दो-दो महीनों का अनशन-व्रत कर जाते हैं, क्या

है कोई ऐसा त्याग-वीर और हिम्मत-मर्द, पुरुष तुम्हारे दिगंबर नंगे गुरुओं मे ? जो एक महीने ही का अनशन-व्रत करके, जगत् को अपनी महानता का परिचय दे दे ? अजी ! यह स्थानकवासी साधुओं ही की कठोर कष्ट-सहिष्णुता, धर्म-शीलता और त्याग-वीरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है, जिनके प्रभाव से प्रभावित होकर के भारत के अनेकों देशी राजा-महाराजाओं और अंग्रेजी भारत के माननीय, तथा प्रकाण्ड पंडित अंग्रेज पदाधिकारियों ने तक, समय-समय पर अपने अधिकृत भूमि-भागों में होते रहने वाले हिंसाकाडों को कई अंशों मे बन्द करवा दिया है। जिसके लिये अपने सही-सिक्कों की सनदें भी उन्हें दी हैं। भाई भ्रमचारी जी ! है कोई तुम्हारे दिगंबर समाज का नंगा गुरु ऐसा, जिसने राजा-महाराजाओं को इतना अपनी ओर प्रभावित किया है ? भाई भ्रमचारी जी ! हम भूले ! तुम्हारे नगे गुरुओं ने भी प्रभाव डाला है। और वह भी बड़ा जबरदस्त प्रभाव ! उस प्रभाव से प्रभावित होकर राजा-महाराजाओं की ओर से ऐसे फर्मान निकाल दिये गये हैं, जिससे तुम्हारे नंगे गुरुओं का उनके राज्यों में प्रवेश तक एकदम रोक दिया गया है। अभी-अभी कुछ दिनों की बात है, जब कि हैदराबाद-राज्य मे भी इन दिगम्बर नंगों का प्रवेश क़ानूनन रोक दिया गया है। यही नगर-प्रवेश की क़ानूनन रोक, इनकी त्याग-वीरता और प्रभाव का प्रमाण है ? अरे, चलते-चलते सड़कों पर तुम्हारे नंगे गुरु के वीर्य का स्खलित हो पड़ना, क्या यही उनकी

विषय-विरक्तता का आदर्श सबूत है ? क्या यही तुम्हारे इन नगे गुरुओं की गुण-गरिमा और गुरुता का जीता-जागता प्रमाण है ?

क्या भ्रमचारी जी ! दिगम्बर नंगे गुरुओं का ऐसा तिरस्कृत और घृणित व्यापार होते हुए भी, फिर तुम उन्हें अभी तक विषय-वासनाओं से विरक्त और त्यागी ही गिनते, मानते और कहते रहोगे ? क्या यह तुम्हारा ठीक वैसा ही पक्ष-पात नहीं है, जैसा कि कोई पुरुष अपने जन्मान्ध और कोढ़िया बालक को सहस्राक्षी और सर्वांग-पूर्ण कहने तक मे ज़रा भी हिचकिचाहट और अनर्गल प्रलाप नहीं मानता ? भ्रमचारी जी ! संसार को छोड़ कर विषयों की ओर फिर से मुड़ना, पहले तो यही काम, वमन किये हुए पदार्थ को चाटने का है। फिर ऊपर से मुनि-व्रत के जिम्मेदार पद पर आरूढ़ होकर के ऐसे-ऐसे भ्रम-पूर्ण और अनधिकार चेष्टा के काम करते रहना तो और भी डबल अपराध का अपराधी, अपने-आपको करार देना है। वाह री चोरी और सर जोरी ! शेख़सादी का क़ौल है, कि—'चिदानी तकस्सुर, ख़ता मे कुनी, ख़ता मे कुनी, ओ ख़ता मे कुनी।' अर्थात् जो कोई गुन्हा करता, और फिर ऊपर से उसकी तारीफ करता है, वह तो डबल गुन्हगार है। तभी तो किसी हिन्दी कवि ने क्या ही समय के अनुकूल कह दिया है, कि 'एक पन्थी दो चले न पन्था, एक सूई, दो सीये न कन्था। दोन्दो बात न होय सयाना, माल भी खाना और वैकुण्ठ भी

जाना ॥'

हाँ, भ्रमचारी जी ! यूँ दो-दो बातें, तुम्हारे ये दिगंबर नंगे गुरु लोग, एक ही साथ करना चाहते हैं, सो बन कैसे सकती है ? फिर करना भी तो इनका गैर वाजिब ही है। अतः अच्छा तो यही है, कि या तो ये लोग मेवा, मिष्ठान्न और अंगूर तथा मौसम्बियाँ आदि फल खा कर ही अपनी चटोरी जबान की उठती हुई उमगों की पूर्ति और तृप्ति कर लिया करें ! या अपने मन की सारी मुरादों को एकदम मसोस कर, परलोक को बनाने के हेतु, सच्ची और आन्तरिक साधना से आत्म-कल्याण के कार्य मे,—'कार्यं साधयामि वा शरीरं पातयामि'—की धुन को साथ मे रख कर जुट पड़ें। उस समय जैसा भी रूखा-सूखा आहार उन्हें मिल जाय, उसे, प्रेम-पूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिए। अगर मेवे, मिष्टान्न और फलों ही को खाने की भावना थी, तो घर-बार ही को फिर क्यों छोड़ा ? भाई भ्रमचारी जी ! दिल से तो तुम भी मानते ही होगे, कि दरअस्ल ऐसा करना, महान् पातक है। भाई ! ऐसा तो कभी भूल कर भी उन्हें न करना चाहिए. जैसा कि आप के दिगबर भाई दीपचद जी वर्णी ने, अपनी 'त्याग-मीमासा' नामक पुस्तक के पृष्ठ १४ वें पर दिगबरी साधुओं के लिये लिखा है, कि—'घी, दूध मेवे व फलादिक दूर-दूर से मँगाये जाते है।'

भ्रमचारी जी ! तुम्हारे ये नंगे गुरु कपड़ों को फैंक-फाँक कर अपने शरीर से तो नगे बन जाते हैं, परन्तु मन और इन्द्रियाँ

तो इनकी पूरी-पूरी विषय वासनाओं और नाना भाँति की भोगों की भावनाओं से लदी रहती हैं। उनका रँग तो नाम को भी छूटता नहीं। तब तो वही बात हुई कि—

'चलती को गाड़ी कहे, अरु नक़द माल को खोया।
रंगी को नारंगी कहते, देख 'कबीरा' रोया॥'

फिर मन और इन्द्रियों की ऐसी सोलह आना अपक्व दशा मे ज्ञान और वैराग्य का तो इन में नाम भी नहीं होता। इन दोनों के अभाव में इस बात का कभी विचार ही इनके दिमाग में नहीं समा सकता, कि 'साधु तो बन रहे हैं, परन्तु इस साधु-वृत्ति का पालन हम कैसे और कहाँ तक कर सकेंगे, या कर सकने में समर्थ भी हो सकेंगे या नहीं।' भ्रमचारी जी! फिर तुम्हारे अनेकों नंगे गुरु ऐसे भी होते हैं, जिनके लिये काला अक्षर भैंस के बराबर होता है। इसीलिये अपने पेट-पालन के भय ही से अक्षर लिखना तक वे, अब जब कि साधु बन जाते हैं, सीखते हैं। पाठको! 'विद्या बीसी, धन तीसी, नहीं तो चक्की पीसी।' वाली कहावत के प्रथम विश्राम के अनुसार वे तब पढ़ भी क्या पाते होंगे। कड़ा बाँस भी कहीं कुछ झुक पाया है। बूढ़ा तोता भी कभी कुछ पढ़ सका है? नहीं, कदापि नहीं। हमारे इसी कथन का समर्थन, तुम्हारी दिगंबर पंडित की लिखी हुई वही 'त्याग-मीमांसा' कर रही है। ज़रा उसका पृष्ठ छठवाँ तो निकाल कर देख लीजिये! अजी; क्यों कष्ट उठाते हैं, लीजिये; हमही तुमको स्वयं बतलाये देते हैं! सुनिये, 'इन (दिगम्बर

मुनियों) में ज्ञान और वैराग्य तो इतना भारी होता है; कि कितनेक तो अक्षर सीखते हैं।' कहिए, जब इन मे ज्ञान ही कुछ नहीं, तो वैराग्य की दुधारी तलवार की धार पर तो ये तब चल भी कैसे सकते हैं। तभी तो 'त्याग-मीमांसा' के पृष्ठ ३-४ पर, आप ही के दिगंबर पंडित दीपचन्द जी वर्णी ने क्या ही पते वार बातें लिख दी हैं! जरा ध्यान और कान लगा कर उन्हें एक-एक कर सुन लीजिए। वे कहते हैं, "कितने ही अयोग्य व्यक्ति ज्ञान और वैराग्य के बिना ही ख्यति-लाभ और पूजादि का सरल द्वार खुल गया जान कर इस पवित्र (दिगम्बर) चारित्र्य-मार्ग में दौड़ लगाने के लिए निकल पड़े हैं; और स्वेच्छाओं की पूर्ति करने-करवाने लग गये हैं। जैसे नींव बिना महल नहीं ठहर पाता, उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य के बिना चारित्र्य न ठहर सका। और थोड़े ही समय मे उस मे अनेकों अपवाद खड़े हो-गये। इन (दिगम्बरी) संयमी नाम धारी व्यक्तियों की स्थान-स्थान पर समालोचनाएँ होने लगीं।"

भ्रमचारी जी! है न मर जाने जैसी बात? संखिया खा कर सो रहो। और-तो-और तुम्हारे ही समाज का एक विद्वान व्यक्ति 'दिगम्बर नंगे गुरु, बिना ज्ञान और वैराग्य के साधु बन जाते है, ऐसा लिख रहा है क्या ऐसा सुनते हुए और देखते हुए भी तुम्हारी छाती दरक नहीं जाती? इसीलिए तो हम कहते हैं कि इन दिगंबर नंगे गुरुओं को बिना ज्ञान और वैराग्य के साधु बन जाने के बाद विषय वासनाएँ, बहुत ही बुरी तरह

से सताती होगी। तब क्या उन का परम कर्तव्य और श्रेष्ठ-धर्म नहीं है। कि सब से पहले वे ज्ञान और वैराग्य को प्राप्त करने के साधनों को जुटाने का प्राण-प्रण से प्रयत्न करें। और तब वस्त्र फेंक कर नंगे भले ही सौ बार वे बनें। इस बात के साथ ही साथ इस बात को भी उन्हें अपनी गांठ में बांध लेनी चाहिए, कि नंगे हो चुकने के पश्चात् उन्हें केवल किसी बीआबान और सुनसान जंगल अथवा किसी पर्वत की एकान्त गुफाओं और कन्दराओं ही में जाकर अपने जीवन के अन्तिम शेष दिनों को बिताना चाहिए।

भाई भ्रमचारी जी! कुछ भी हो, तुम्हारे नंगे गुरुओं का वन के अपने नग-धड़ंग रूप में गाँव मे प्रवेश करना तो महान् लज्जा की बात है। क्योंकि उनके नगे शरीरों को देख-भाल कर स्त्री-समाज मे काम-विकार की जागृति हुए बिना किसी भी प्रकार रह नहीं सकती। और यह तो उनके लिये उलटा महान् कर्म-बन्धन का कारण हो जाता है। अस्तु।

भाई भ्रमचारी जी! अनंगक्रीड़ा की बात लिख कर तो तुम ने अपने भव-भ्रमण को बड़ा ही लम्बा-चौड़ा बना लिया है। अरे, अपने पाव भर या आधा सेर अनाज के लम्बे-चौड़े गड्ढे पेट पापी के भरण-पोषण की पूर्ति के लिए तुमने कैसे २ वे सिर-पैर और बिना मूंड-गोड़ के भयंकर गप्पे लिख मारे हैं। जिन को देख-देख और सुन-सुन कर एक साधारण से-साधारण व्यक्ति तक तुम्हारी हरकतों से पूरा-पूरा परिचित हो जायगा।

क्यों भ्रमचारी जी ! अनन्त चतुर्दशी अथवा जलोत्सव (पानी के उच्छव) के दिन जिस व्यक्ति को इन्द्र बनाया जाता है, वह अल्पवयस्क ही क्यों होता है ? किसी बड़े वूढ़े आदमी को इन्द्र न बनाकर केवल छोटी उम्र के एक गोरे और खूबसूरत बच्चे ही को खूब शृंगारित करके इन्द्र क्यों बनाया जाता है ? क्या इस मे भी कोई गुप्त रहस्य है ? हाँ हाँ है, क्यों नहीं ? और वह यह कि—कदाचित् उन छोटे-छोटे, गोरे और खूबसूरत फटाके लौंडों को ये तुम्हारे नंगे गुरु घंटाल लोग अपनी प्रदीप्त अनंग क्रीडा का क्षेत्र बनाते होंगे ? किसी भी स्थान पर समझदार लड़कों या इस गाँव के बड़े-बूढ़े पुरुषों को तो, इन्द्र बनाना न तो कभी देखा ही गया है, और न कभी सुना ही गया है ! क्यों, भाई भ्रमचारी जी ! मामला क्या है ! कुछ तो सच कह दो यार ! हम तुम्हारी सौंह खाकर, तुम्हें निश्चय दिलाते हैं, कि हम तुम्हारी बात को जाहिर नहीं करेंगे।

क्यों, भ्रमचारी जी ! तुम्हारे ये नगे गुरु लोग भी संघ के रूप मे पाँच-पाँच और सात-सात या अधिक-से-अधिक रूप मे साथ रहते हैं न ? हमे इस मे कोई और किसी भी प्रकार का रत्ती-भर भी उज्र नहीं । तुम्हारे लेखानुसार, हमें तो केवल इतना ही पूछना है, कि उन लोगों मे, कोई अवस्थावान् लोग भी रहते ही होंगे। उन मे से सब-के-सब बूढ़े-ही-बूढ़े हों, अथवा सब-के-सब बालक-ही-बालक, सो तो

कोई होता नहीं। तो फिर वे विषय की पूर्ती करते होंगे ? या नहीं। तुम ही इस का जवाब दो खैर, तुम्हारे घर की तुम ही जानते रहो। हमें उस की पड़ी ही ऐसी कौन-सी है ! भ्रमचारी जी क्यों, कीचड़ मे पत्थर डाल-डाल कर, अपने ही भाल को भूषित तुम करते हो !

अरे भ्रमचारी जी ! तुम, ज़रा तो सोच लेते, कि छोटे बच्चों को बहकाने से, आखिर कार नतीजा भी क्या निकलेगा ? इस से न तो वे ही खुश होंगे, और न उन के माँ-बाप ही राजी होंगे। और, जब राजी बनना ही न हो पाया तब साधु बन जाना तो, कितनी सचाई का प्रमाण हो सकता है ? अरे जब राज़ी—खुशी ही अभी नहीं, तो साधु, वे उन्हें बनने भी कब देंगे ? परन्तु माँ-बाप को जब यह दृढ़ विश्वास हो जाता है, कि हमारे पुत्र को, सचमुच में, वैराग्य हो गया है; संसार से सचमुच मे उसे उपराम हो गया है; तभी वे उसे इजाज़त भी देते हैं। फिर इजाज़त, यदि ज़बानी हो तो उसका भी कोई मोल-तोल नहीं। वह तो हर हालत में लिखी हुई ही होना चाहिए। स्थानकवासी साधु भी, यही देखते हैं, कि साधु बनने वाले व्यक्ति का मन, वैराग्य मे कहाँ तक रंगा हुआ है। अपनी इस कसौटी पर कस कर जब उसे बावन तोला और पाव रत्ती' पूरा-पूरा पा लेते हैं, तभी वे उसे साधु बनने की इजाज़त भी देते हैं। अन्यथा, कभी नहीं। अरे कुन्दनलालजी ! इतना करलेने पर भी, इन स्थानकवासी साधुओं

पर, बहकाने और वरगलाने का मिथ्या दोपारोपण करते हुए तुम जरा भी शर्माते नहीं ? क्या, तुम्हारे दिगम्बर नगे गुरुओं ने तुम्हें ऐसी मिथ्या बातें फाँकना सिखाया है ? अरे अब अन्धकार का समय नहीं है । लोग, भली-भाँति तुम्हारे काले कारनामों से परिचय पा चुके हैं । वे तुम्हारे झमेलों में तो अब किसी भी तरह से आने वाले नहीं । और जो भूल से या अन्ध-विश्वस से, या अज्ञान से किसी भी तरह तुम्हारे चक्कर में फँस गये हैं, वे भी मौका पाते ही छट-पटा कर और बन्धन तुड़ा-तुड़ा कर उस चक्कर से निकल भागने का भर-सक प्रयत्न कर रहे हैं। फिर स्थानकवासी साधु किसी लड़के को मोल तो भूल कर भी नहीं लेते । मोल-तोल के मार्ग को वे जाने ही क्या ? यह मोल-तोल का मामला तो तुम्हें और तुम्हारे नगे गुरुओं ही को नसीब होता रहे । क्यों कि मोर-पींछी में उनके पास समय- असमय काफी नोट छिपे रहते हैं । भाई ! स्थानक-वासी साधु तो इस काम को घोरतम पाप समझते हैं। सरकारी कानून से भी ऐसा करना अपराध करा दिया गया है । भ्रमचारी जी ! चाँदी झडेगी यदि उनके द्वारा बालकों को मोल लेने की यह बात अक्षर-अक्षर सत्य है तो चलो 'बैठा बनिया क्या करे, इधर के तोले उधर करे' के नाते बैठे-ठाले करते भी क्या हो, उठ खडे हो; मुखबीर बनकर सरकार को सुबूत करके दिखा दो यूँ कुछ-न-कुछ तो इनाम-इकरार तुम्हें मिल ही जायगा । उस से जितने भी दिन गुजर हो सकेंगे । उतने ही सही ! अरे फाका-

कोई होता नहीं। तो फिर वे विषय की पूर्ती करते होंगे ? या नहीं। तुम ही इस का जवाब दो और, तुम्हारे घर की तुम ही जानते रहो। हमें उस की पड़ी ही ऐसी कौन-सी है। भ्रमचारी जी क्यों, कीचड मे पत्थर डाल-डाल कर, अपने ही भाल को भूषित तुम करते हो !

अरे भ्रमचारी जी। तुम, ज़रा तो सोच लेते, कि छोटे बच्चों को बहकाने से, आखिर कार नतीजा भी क्या निकलेगा ? इस से न तो वे ही खुश होंगे, और न उन के माँ-बाप ही राजी होंगे। और, जब राजी बनना ही न हो पाया तब साधु बन जाना तो, कितनी सचाई का प्रमाण हो सकता है ? अरे जब राज़ी—खुशी ही अभी नहीं, तो साधु, वे उन्हें बनने भी कब देंगे ? परन्तु माँ-बाप को जब यह दृढ़ विश्वास हो जाता है, कि हमारे पुत्र को, सचमुच में, वैराग्य हो गया है; संसार से सचमुच मे उसे उपराम हो गया है; तभी वे उसे इजाज़त भी देते हैं। फिर इजाज़त, यदि ज़बानी हो तो उसका भी कोई मोल-तोल नहीं। वह तो हर हालत मे लिखी हुई ही होना चाहिए। स्थानकवासी साधु भी, यही देखते हैं, कि साधु बनने वाले व्यक्ति का मन, वैराग्य मे कहाँ तक रंगा हुआ है। अपनी इस कसौटी पर कस कर जब उसे बावन तोला और पाव रत्ती' पूरा-पूरा पा लेते हैं, तभी वे उसे साधु बनने की इजाज़त भी देते हैं। अन्यथा, कभी नहीं। अरे सुन्दरलालजी ! इतना करलेने पर भी, उन स्थानकवासी साधुओं

पर, बहकाने और बरगलाने का मिथ्या दोपारोपण करते हुए तुम जरा भी शर्माते नहीं ? क्या, तुम्हारे दिगम्बर नंगे गुरुओं ने तुम्हें ऐसी मिथ्या बातें फॉकना सिखाया है ? अरे अब अन्धकार का समय नहीं है । लोग, भली-भाँति तुम्हारे काले कारनामों से परिचय पा चुके हैं। वे तुम्हारे झमेलों मे तो अब किसी भी तरह से आने वाले नहीं। और जो भूल से या अन्ध-विश्वस से, या अज्ञान से किसी भी तरह तुम्हारे चक्कर मे फॅस गये हैं, वे भी मौक़ा पाते ही छट-पटा कर और बन्धन तुड़ा-तुड़ा कर उस चक्कर से निकल भागने का भर-सक प्रयत्न कर रहे हैं। फिर स्थानकवासी साधु किसी लड़के को मोल तो भूल कर भी नहीं लेते । मोल-तोल के मार्ग को वे जाने ही क्या ? यह मोल-तोल का मामला तो तुम्हें और तुम्हारे नगे गुरुओं ही को नसीव होता रहे। क्यों कि मोर-पींछी मे उनके पास समय- असमय काफी नोट छिपे रहते हैं। भाई ! स्थानक-वासी साधु तो इस काम को घोरतम पाप समझते हैं। सरकारी कानून से भी ऐसा करना अपराध करा दिया गया है । भ्रमचारी जी ! चाँदी झडेगी यदि उनके द्वारा बालकों को मोल लेने की यह बात अक्षर-अक्षर सत्य है तो चलो 'बैठा वनिया क्या करे, इधर के तोले उधर करे' के नाते बैठे-ठाले करते भी क्या हो, उठ खडे हो, मुख़बीर बनकर सरकार को सुबूत करके दिखा दो यूँ कुछ-न-कुछ तो इनाम-इक़रार तुम्हें मिल ही जायगा । उस से जितने भी दिन गुज़र हो सकेंगे । इतने ही सही ! अरे फ़ाका-

क़शी की नौबत तो नसीब न रहेगी ! 'साँच को आँच ही क्या ।' जब तुम सच्चे हो, फिर पशोपेश ही कैसा ?

अरे भ्रमचारी जी ! चाहे कुन्टे की हो, या सूती, अथवा ऊनी, स्थानकवासी साधु तो अपने पास तीन चद्दरों से अधिक कभी भी नहीं रखते। उनके पास काठ के चार पात्रों से अधिक न और कोई पात्र ही कभी होते हैं। फिर भी तुम लिख रहे हो कि 'कई २ रखने पर परिग्रह नहीं होता है ।" मिथ्यालापी भ्रमचारी जी ! स्वयं भगवान् ने शास्त्रों मे फ़र्माया है, कि इन उपकरणों को रखने मे परिग्रह नाम को भी नहीं होता यदि इनके रखने मे किसी भी प्रकार का परिग्रह होता तो वीत-राग भगवान् इन को रखने की आज्ञा, शास्त्रों द्वारा देते ही कब और क्यों ? अतः वस्त्र और पात्रों को परिग्रह बतलाना, यह तो सरासर अपने दक़ियानूसी विचारों से पक्ष-पात का पालन-पोषण करना है ।

वूढी बुद्धि के भ्रमचारीजी । ओढ़े हुए कपड़ों पर परिन्दों की वीट गिर गई, अथवा और किसी अपवित्र वस्तु से वे ख़राब कभी हो गये, तो प्राशुक जल से धोकर उन्हें साफ़ कर दिया जाता है। साफ करने मे तो कोई आरम्भ कभी नहीं होता अजी। आरम्भ तो तब होता जब कि कच्चे पानी के द्वारा वे धोये जायँ। भ्रमचारीजी ! तुम्हारे हीये की आँखें हो तो तुम अवश्य देख सकते थे, कि स्थानकवासी साधु जब कच्चे पानी ही को कभी नहीं छूते, तो फिर आरभं हो भी कैसे जाया करता ?

हमारी समझ मे तो यह बात नहीं समाती । हाँ, तुम्हारे लेखानुसार हमें यह बात तो अवश्य ही मालूम हो गई, कि तुम्हारे दिगवंर नंगे गुरुओं के शरीर पर मल-मूत्र अथवा किसी पक्षी विशेष की कोई बीट कभी गिर गई तो न-तो-स्वयं वे ही पानी द्वारा कभी साफ करते होंगे और न कभी दूसरों ही से उसे साफ वे करवाते होंगे। क्योंजी, तब क्या उसे वे अपनी जबान से चाट कर साफ़ करते हैं ? या नहीं, तो और कैसे ? इसी प्रकार ख़ुदा न ख्वास्ता सभी समय सरीखे नहीं होते। यदि कभी उनके कमडल और मयूर-पींछी ही पर कोई गॅदली वस्तु गिरे और पक्षी या किसी परिन्दे की बीट ही उनके ऊपर अथवा उनके अन्दर जा गिरी, तब उन्हें भी कभी साफ वे करते-कराते होंगे, या नहीं ? यदि हॉ, तो कैसे ? क्या, दूसरे पानी द्वारा ? या, जैसे अफ्रिका महा-द्वीप मे नीग्रो जाति के लोग, अपने मल-मूत्र को अपने ही शरीर पर मल कर उनसे एक प्रकार की पॉलिश-सी कर लेते हैं, वैसे ? फिर उन्हें वे स्वय ही साफ करते हैं ? अथवा दूसरों से साफ़ करवाते हैं ? किसी भी प्रकार से वह हो। परन्तु इन दोनो अवस्थाओं मे आरम्भ होगा, या नहीं ?

तब तो दिगवर नगे साधुओं को आरम्भ-त्यागी कहना मानों एक प्रकार का ससार के साथ वाक् छल-मात्र करना है । और हिमालय-जैसी भयकर और भारी-भूल है । भ्रमचारी जी ! जरा, और कदम उठाइये। इन्हीं आपके दिगम्बर नगों के शरीर पर, गर्मी की ऋतु मे, जब मैल बहुत अधिक जम

गले का तो भ्रमचारी जी! केवल इतना ही अर्थ है, कि उस अनाज की रोटी, जो अकसर कहतसाली के समय खाई मे पड़े हुए अनाज से, जिसमे खाई की बू आती है, बनाई जाती है। कोई हज़ार दो हज़ार वर्षों के रक्खे हुए भोजन से तो उसका तात्पर्य कभी नहीं लिया जाना चाहिए! आख़िरकार मनुष्य, मनुष्य ही तो होता है। पशु-पक्षी तक जब सड़े-गले पदार्थों को खाने मे हिचकिचाते हैं, तब मनुष्य तो उसे खा भी कैसे सकेंगे। जरा हीये की आँखें खोल कर इसका विचार, पहले ही से तुम ने कर लिया होता, तो यह मौक़ा ही तुमको आज न आया होता। पर अक्ल तो तुम्हारी सब-की-सब नंगाई मे निकल चुकी है। अनेकों गृहस्थ अपनी दीनता और हीनता के कारण जैसा भी अनाज समय पर उन्हें मिल जाता है, उसी की रोटियाँ उनके घर मे बनाली जाती हैं। और तब जो भी कोई साधु उनके घर पर भिक्षार्थ जाते हैं उसी अनाज की रोटियों को वे भी भिक्षा मे पाते हैं। जब गृहस्थियों ही को नहीं मिलता तब दूसरी रोटियाँ उनके लिए लाई भी कहाँ से जावें? फिर दूसरी रोटियाँ साधुओं के लिए कदाचित् वे बनावें भी तो उनमे उनका न तो वह प्रेम-भाव ही रहता है, और न साधुओं ही को उन्हें ग्रहण करने का कोई अधिकार। क्योंकि जैनियों के तीनों फिरकों का अटल सिद्धान्त है, कि 'साधुओं को वही आहार लेना योग्य है जो उनके निमित्त न बनाया गया हो।' इसलिए वासी हो या कूमी, सड़ा हो या गला, जैसे भी अनाज

की रोटियाँ समय पर प्रेम पूर्वक उन्हें मिल जावें बिना किसी पशो-पेश के उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए।

आगे भ्रमचारी जी ने 'फूली चढ़ा' लिख कर के तो स्वयं अपने ही हाथों अपनी ही बुद्धि पर फूली चढ़ाई है। क्योंकि, स्थानकवासी साधु फूली चढ़े हुए आहार को लेना तो दर-किनार रहा वे उसे छूना तक पाप समझते हैं।

भ्रमचारी जी! तुम दूध तथा मिठाई मे जो असंख्य जीव बतलाते हो तो तुम्हारे दिगंबर गृहस्थ लोग प्रति-दिन दूध और मिठाई खाते है, सब-के-सब असंख्या जीवों का घात करने वाले तुम्हारे ही कथनानुसार सिद्ध हुए। ऊपर से फिर तुर्रा यह, कि अभी तक वे 'जैन' ही कहलाते तथा माने और गिने जा रहे हैं। क्योंजी तब तो जैसा भोजन उन गृहस्थों के घर मे बनता बनाता होगा, वैसा ही भोजन तो तुम्हें तथा तुम्हारे नगे गुरुओं को मिलता होगा? तब तुम सब-के-सब उन असख्यात जीवों की हत्या के भागी हुए या नहीं? थोड़ी देर के लिये कदाचित तुम यह भी कह सकते हो, कि 'हमें तथा हमारे दिगबर नंगे गुरुओं को गृहस्थ लोग, अपने घर ही मे बनी हुई मिठाई देते और खिलाते हैं।' अच्छा यही सही। परन्तु उसमे शक्कर जो डाली जाती है, क्या उसे भी वे गृहस्थी लोग अपने-ही-अपने घरों में बना लेते होंगे? नहीं, कदापि नही। तब शक्कर के बनने-बनाने में कितने जीवों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष-रूप से, विनाश होता है, और कितनी तथा किन-किन जाति-पाँति के

गले का तो भ्रमचारी जी ! केवल इतना ही अर्थ है; कि उस अनाज की रोटी, जो अकसर कहतसाली के समय खाई में पड़े हुए अनाज से, जिसमें खाई की बू आती है, बनाई जाती है। कोई हज़ार दो हज़ार वर्षों के रक्खे हुए भोजन से तो उसका तात्पर्य कभी नहीं लिया जाना चाहिए ! आखिरकार मनुष्य, मनुष्य ही तो होता है। पशु-पक्षी तक जब सड़े-गले पदार्थों को खाने मे हिचकिचाते हैं; तब मनुष्य तो उसे खा भी कैसे सकेंगे ! जरा हीये की आँखें खोल कर इसका विचार, पहले ही से तुम ने कर लिया होता, तो यह मौक़ा ही तुमको आज न आया होता। पर अक्ल तो तुम्हारी सब-की-सब नंगाई मे निकल चुकी है ! अनेकों गृहस्थ अपनी दीनता और हीनता के कारण जैसा भी अनाज समय पर उन्हें मिल जाता है, उसी की रोटियाँ उनके घर मे बनाली जाती हैं । और तब जो भी कोई साधु उनके घर पर भिक्षार्थ जाते हैं उसी अनाज की रोटियों को वे भी भिक्षा मे पाते हैं। जब गृहस्थियों ही को नहीं मिलता तब दूसरी रोटियाँ उनके लिए लाई भी कहाँ से जावें ? फिर दूसरी रोटियाँ साधुओं के लिए कदाचित् वे बनावें भी तो उनमे उनका न तो वह प्रेम-भाव ही रहता है, और न साधुओं ही को उन्हें ग्रहण करने का कोई अधिकार। क्योंकि जैनियों के तीनों फिरकों का अटल सिद्धान्त है, कि 'साधुओं को वही आहार लेना योग्य है जो उनके निमित्त न बनाया गया हो।' इसलिए बासी हो या कूसी, सड़ा हो या गला, जैसे भी अनाज

की रोटियाँ समय पर प्रेम पूर्वक उन्हें मिल जावें बिना किसी पशो-पेश के उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए।

आगे भ्रमचारी जी ने 'फूली चढ़ा' लिख कर के तो स्वयं अपने ही हाथों अपनी ही बुद्धि पर फूली चढ़ाई है। क्योंकि, स्थानकवासी साधु फूली चढे हुए आहार को लेना तो दर-किनार रहा वे उसे छूना तक पाप समझते हैं।

भ्रमचारी जी! तुम दूध तथा मिठाई मे जो असंख्य जीव बतलाते हो तो तुम्हारे दिगंबर गृहस्थ लोग प्रति-दिन दूध और मिठाई खाते हैं, सब-के-सब असंख्या जीवों का घात करने वाले तुम्हारे ही कथनानुसार सिद्ध हुए। ऊपर से फिर तुर्रा यह, कि अभी तक वे 'जैन' ही कहलाते तथा माने और गिने जा रहे हैं। क्योंजी तब तो जैसा भोजन उन गृहस्थों के घर मे बनता बनाता होगा, वैसा ही भोजन तो तुम्हें तथा तुम्हारे नगे गुरुओं को मिलता होगा? तब तुम सब-के-सब उन असख्यात जीवों की हत्या के भागी हुए या नहीं? थोड़ी देर के लिये कदाचित् तुम यह भी कह सकते हो, कि 'हमें तथा हमारे दिगंबर नंगे गुरुओं को गृहस्थ लोग, अपने घर ही मे बनी हुई मिठाई देते और खिलाते हैं।' अच्छा यही सही। परन्तु उसमें शक्कर जो डाली जाती है, क्या उसे भी वे गृहस्थी लोग अपने-ही-अपने घरों में बना लेते होंगे? नहीं, कदापि नही। तब शक्कर के बनने-बनाने मे कितने जीवों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष-रूप से, विनाश होता है, और कितनी तथा किन-किन जाति-पाँति के

लोग उसके बनने-बनाने में, शरीक होते हैं, क्या कभी इन सब बातों का विचार भी तुमने और तुम्हारे उन नंगे गुरुओं ने कभी किया है? भ्रमचारी जी! क्यों चुपचाप होकर नहीं बैठ रहते? क्यों अपने पापों का भंडा-फोड़ अपने ही हाथों तुम कर रहे हो? भला ऐसी हेय, अपवित्र और हिंसा-युक्त शक्कर, जिस का वर्णन यथा-स्थान हम ऊपर विस्तार-पूर्वक कर आये हैं; कि मिठाइयों को स्वय खा-खा कर और अपने नंगे गुरुओं को खिला-खिला कर, क्यों तुम स्वयं असख्यात-जीवों की हत्या के भागी बन रहे हो, और अपने नंगे गुरुओं को बनवा रहे हो? भ्रमचारी जी! अपनी उनकी चटोरी जबान के वश मे हो-हो कर क्यों अपने सिर पर पापों की पोट को धरते जा रहे हैं! अच्छा है यारो पीछे की पीछे रही! अभी तो मुफ्त का माल जितना भी अधिक-से-अधिक उड़ाया जाय खूब उड़ालो! गुपचुप की पुड़िया चमड़े की थैली में डालते रहो। आखिरकार तुम शक्कर से मोह तोड़ो भी कैसे? उससे अपना मुँह तुम मोड़ो भी तो क्यों? क्योंकि वह रसीली है, मीठी है और मुँह मे पानी ला देने वाली चीज है! यही नहीं वह इतनी सुरीली वस्तु भी है, कि चींटियाँ तक उस के मधुर सन्देश को पाकर दौड़ पड़ती हैं। फिर उसे और उसके द्वारा बने हुए अमृत-मय पदार्थों को देख-भाल कर तुम्हारे और तुम्हारे दिगंवरी नगे गुरुओं के मुँह से लार क्यों न टपक पड़े? वाह-भाई-वाह! 'मीठा-मीठा गपगप और कड़वा-कड़वा थू-थू' वाला पाठ तो खूब ही मजे का

तुम लोगों ने पढ़ा।

भ्रमचारी जी ! तुम ज़रा यह तो बतलाओ, कि दिगंबरों के वे कौन से ग्रन्थ हैं, जिनमे यह लिखा है, कि—'दिगंबर मुनि कहला कर भी, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और त्रसकायिक जीवों की हिंसा, यदि उनके अपने लिये होती हो तो उसे उन्हें नहीं रोकना चाहिए ? सचमुच मे बात तो यह है, कि मारन, मोहन, उच्चाटन, बलि, मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र आदि के करने-करवाने मे, जो असंख्यात जीवों की महान् हिंसा होती है, उस हिंसा से दिगंबर नंगे गुरुओं का सारा-का-सारा शरीर ही दुर्गन्ध युक्त हो रहा है। उसी दुर्गन्ध को दूर भगाने के लिये वे हर समय अपने पास मोर पींछी रखते हैं । यदि किसी भाई को उन मारणादि मन्त्रों के देखने तथा पढ़ने का शौक़ हो तो वे 'भैरव पद्मावती कल्प', 'ज्वाला मालिनी कल्प' 'सिद्ध-चक्र-कल्प' 'धर्म-रसिक' आदि-आदि अनेकों दिगंबर शास्त्रों को ध्यान और मनन-पूर्वक पठन-पाठन खुशी-खुशी कर सकते हैं।

बुद्धि के बवंडर भ्रमचारी जी ! पात्रों के धोने के पानी को फेंक देने में तो कोई जीव-हिंसा नहीं होती है। क्योंकि स्थानकवासी साधु उस पानी को डालते उसी पर हैं, जहाँ हरी घास नीलन, फूलन, और चींटी आदि जीव-जन्तुओं के बिल नहीं होते। तब हिंसा फिर किस की और कैसी ? हाँ धूप से यदि आप उन्हें सुखादें, और आपका वैसा ही इरादा हो तो उस

पानी को वे इधर उधर न गिरा कर आपकी प्यास को बुझाने के लिए आप ही के मुँह में उड़ेल दिया करें। भ्रमचारी जी ! जहाँ हिंसा नही वहीं महाव्रत होते हैं। और जहाँ महाव्रत हैं, वहीं साधुत्व भी है। अब जिनके आहार-विहार के निमित्त महान हिंसात्मक आरम्भ होता है, जैसा कि दिगम्बर दीपचन्द जी वर्णी ने अपनी 'त्याग मीमांसा' में लिखा है, और जिसका वर्णन हम यथास्थान पहले कर आये हैं—वहाँ महा-व्रत तो कभी नहीं रहते। और जहाँ महाव्रत नहीं वहाँ मुनिव्रत तो ठहर ही कैसे सकता है ? इस न्याय-नियम से तब तुम्हारे दिगम्बर नंगे गुरु अपने आप को 'मुनि' के महान् जिम्मेदार पद से सम्बोधित करते कैसे हैं ? जान नहीं पड़ता। यारो ! यह तो वैसी ही बात हुई, जैसी कि किसी दही की हंडिया के गडगे को अपने गले मे फँसा हुआ जानकर विवशतावश कोई बिल्ली उसे केदार कॉकन मान बैठे, और तब अपने आप को वह जगत् में ईश्वर-भक्त साबित करती हुई चुपके से चूहों को दबोच-दबोच कर मार खाती हो वाह भाई वाह ! सौ-सौ चूहे खाय के बिलाई बैठी तप के' वाली बात तो बड़ी ही भली और मजेदार सीखी ! जिस से उड़ाने को माल भी मिलता रहे। और कहलाने को त्यागी मुनि भी कहलाते रहें।

भ्रमचारी जी ! कमण्डल, मोर-पींछी, और शरीर इन तीनों के सिवाय अन्य सम्पूर्ण वस्तुओं मे परिग्रह और उसकी छाया को देखना यही तो माया-चारियों का माया-मयी उपदेश है। ऐसे मूढ़ता-पूर्ण और छल-छद्म-भरे पूरे-उपदेशों से छूटा

गुण-स्थान तो न जाने कितने छियासठ कोस की दूरी पर रहा, यहाँ तो तीसरे गुण-स्थान के स्थान पर भी पैर रखना असम्भव सा जान पडता है। तब अपने-आपको 'मुनि' के महान् पद पर आरूढ़ बतला कर उसके उस पद से जनता को उपदेश देना और उन्हें आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान कराना तो एक-दम असम्भव ही-सा है आकाश-कुसुम-वत्-मात्र है। और कुछ नहीं। 'मुनि' कहलाना जितना ही सीधा और मीठा जान पड़ता है दरअस्ल है यह उतना ही कठिन और कड़वा भी। साहस करके एक बार तलवार की धार पर भी सरलता-पूर्वक दौड़ा जा सकता है, परन्तु मुनि-व्रत का साँगोपाँग निबाहना तो यथार्थ में महान् कठिन ही है :—

"बुरे अहमाल कर उनको फिर निजात भाती है।
मगर अफ़सोस है यारों, ज़रा नहीं शर्म आती है॥"

भाई भोले भ्रमचारीजी! यों भी किसी की कभी आत्म-शुद्धि हुई है? अगर नंगाई ही से आत्म-शुद्धि कभी किसी की हो गई होती तो जगत् से आज तक अनेकों जीवा का नामो-निशान ही मिट गया होता। नगे तो जगत् मे अनेकों ढोर-ढगर और जीव जन्तु अनेकों प्राणी, आजन्म नगे रह कर ही अपने जीवन को गुज़ार देते है। यदि यह नंगाई ही किसी के आत्मोद्धार का हेतु हुआ होता तो जगत् से इनका निस्तार तो आज से बहुत पहले ही हो गया होता। पर ऐसा न तो कभी हुआ ही और न कभी आगे ही होगा। आत्म-शुद्धि, आत्म-कल्याण और आत्मोद्धार, तो

जब कभी भी हुआ तथा होगा एक-मात्र आत्म-तत्त्व के चिन्तन ही से हुआ और आगे भी होगा। उसके लिये, शील, सदाचार आत्म-संयम, सत्संगति, और शास्त्रों का अनवरत पठन-पाठन और उनके अनुकूल अपने आचरण को बनाना ये ही प्रधान और महान साधन है। अतः भ्रमचारीजी! आत्म-शुद्धि के प्राथमिक साधन, अर्थात् कम-से-कम लोक-हँसाऊ नंगेपन की वृत्ति, अपने आहार-विहार की हिंसात्मक एवं बाह्य-वृत्ति और आन्तरिक कषायादि को दिल से झोड़-झाड़ के निकाल फेंकेंगे। तभी वे लोग आत्म-शुद्धि, आत्म-कल्याण, और आत्मोद्धार के मार्ग पर लगा सकते हैं। वरना हजारों वर्ष यूँ नगाई में कोई बिता मारे एक रत्ती भर भी उनका सुधार होने-जानेवाला नहीं अपनी आज की अवस्था में साधुओं के योग्य वस्त्र वगैरह मर्यादित उपकरणों को तो परिग्रह ठहरा कर और मोरपिंछी कमण्डल अपने पास रख कर अपने-आप को मुनि कहना और कहलवाना यह तो सरासर जैनधर्म को कलंकित करना है। यही नहीं अनन्त भव भ्रमण का कारण भी यह है।

भाई भ्रमचारीजी! तुमने अपनी आँखों पर जब तक भेदा-भाव के रंग का चश्मा चढ़ा रक्खा है, तब तक तो वास्तविक वस्तु-दर्शन तुम्हारे लिए महान् दुर्लभ ही है। और यही कारण है कि आज स्थानकवासी साधुओं में तुम अकारण ही अनेकों प्रकार के दोषों का आरोपण कर रहे हो। परन्तु स्थानकवासी साधु तो भगवान् की आज्ञाओं का

अनुसरण और अनुकरण करते हुए ही अपनी साधु—वृत्ति का पालन कर रहे है। अचरज तो हमें इस वात का है, कि जैसे कोई एक नकटा दूसरों को भी वैसा ही देखना और सुनना चाहता है, और उसी रूप मे परायों को ढ़ूंढता भी वह फिरता है। जैसे, एक कौआ इधर-उधर घूम फिर कर के भी गंदली-से-गंदली वस्तु, माँस जैसे पदार्थों ही को बटोरता रहता है। ठीक उसी प्रकार दिगंवर नंगे गुरु भी दूसरों को अपने समान ही नगे रूप मे देखना तथा कहना-कहलाना पसन्द करते हैं। न मालूम इस वृत्ति मे उन्हों ने अपना भला भी तो कौन-सा सोचा है। परन्तु क्या यह व्यापार उनकी क्षुद्र बुद्धि का परिचायक नहीं है ? बस जहाँ भी कहीं श्वेतावर सूत्र-ग्रन्थों मे 'अचेलक' शब्द उन्हों ने देखा, कि वहीं पर टूटे, भूखे शेर की भाँति वे। और चले अपने नगेपन को सिद्ध करने-कराने। परन्तु भ्रमचारी जी ! यह है तुम्हारी भयंकर भूल। क्योंकि 'श्री उत्तराध्यय जी सूत्र' के पृष्ठ ३६२ पर 'अचेओ' शब्द का अर्थ किया गया है—[अ—अल्प है, चेल—वस्त्र, जिसके पास उस को कहते हैं 'अचेलक'।] 'अ' का अर्थ यहाँ 'अल्प' हैं, न कि नकार्थी किसी अर्थ मे यहाँ इसका कोई प्रयोग किया गया है। 'अ' के इस अर्थ की खातिरी कोषों मे देख कर की जा सकती है। फिर भी मन्द बुद्धिवाले भ्रमचारी जी ! को जब देखो तब और जहाँ भी देखो वहाँ ही इस अचेल शब्द को सुन-भर, या देख-भर लेने ही से, उन के नाक-कान सिकुड़

जाते हैं। वहाँ भी उन्हें, अपनी ही दिगंबर । का भ्रम हो जाता है। भाई ! यदि ऐसा ही है, तो क्यों नहीं, तुम अपनी बोंथरी (Blunt) बुद्धि को, संस्कृत भाषा कि किसी भी आदर्श व्याकरण-रूपी सिलई पर; सुधार लेते हो ? जिस से, किसी भी शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने-समझाने में, तुम्हें इतना नीचा तो कभी न देखना पड़े। उसी "उत्तराध्यान जी सूत्र" के उसी ३६२ वें पृष्ठ पर, साफ-साफ लिखा है, कि 'श्री पार्श्वनाथ भगवान का 'सचेलक' अर्थात् प्रमाण रहित वस्त्र धारण करने का, और महावीर स्वामी का 'अचेलक' अर्थात् प्रमाण सहित वस्त्र धारण करने का धर्म है। भाई सुन्दरलाल जी ! क्या इसी में तुम्हारी सुन्दरता की शोभा है कि इस उपर्युक्त बात को तो, तुम पूरी-पूरी चुरा कर चुपके-से इधर-धर छिपागये। परन्तु जो लोग, शास्त्रों का मन्थन दिन-रात करते-कराते रहते हैं, उन से छिपी भी तो कौन-सी बात रहती है ? परन्तु, हाँ, यह बात यदि तुम बता जाते, तो नंगे पन की पोल तो, पूरी पूरी, यहाँ खुल गई होती।

आगे चल कर, भ्रमचारी जी ने, "श्री आचारँग जी सूत्र के पृष्ठ ४७ का एक उद्धरण दिया है, कि—"साधु, परिग्रह-रहित ही शुद्ध संयमी है।" परन्तु यह उद्धरण तो, 'सूरज में अन्धकार' की भाँति एक-दम असत्य है।" इसे भ्रमचारी जी ने, अपने ही मन से घड़ कर लिख मारा है। भ्रमचारी ही तो ठहरे ! जिस बात की भी सनक उनके सिर

सवार होगई, वस, उसी ओर वे झुक पडे। क्या विचारवानपाठक-गण हमारे कथन की सत्यता को परखने के लिए आचारँग जी सूत्र के पृष्ट ४७ को निकाल कर उसे ध्यान—पूर्वक देख जाने की कृपा करेंगे ? तब उन्हे इन की कितनी ज्यादती है इस वात का भी कुछ ज्ञान हो सकेगा। उस पृष्ठ मे उन्हे कहीं इस वात का कि "साधु परिग्रह रहित ही शुद्ध सयमी हैं" पता तक न लग पावेगा फिर भी हम अपनी ओर से कहेंगे कि भ्रमचारीजी ने जिस उद्धरण को सूत्रोक्त कह कर उद्धृत किया है उसके सूत्रोक्त न होते हुए भी, वुरा तो कभी भूल कर भी नहीं है। स्थानकवासी साधुओं की वृति ठीक उसी के अनुकूल है। उसके विपरीत रत्तीभर भी नहीं। साधुओ के लिए, वस्त्र तथा पात्रादि जो भी उपकरण शास्त्रों मे वतलाये गये है उन से अधिक उपकरणरूप परिग्रह रहित साधु ही शुद्ध सयमी सावु है। इस वात को हम ही क्या प्रत्येक हृदयवान् और मनीषी पुरुष, निर्विवाद रूप से मानेगा और अपनावेगा। आचारग एवं स्थानाँगजी सूत्र में श्वेताम्वर साधुओं के लिए तीन 'चद्दर' रखलेने का स्पष्ट उल्लेख है।

आगे चलकर, भ्रमचारी जी ने आचारंग जी सूत्र के पृष्ट ११७-११८ का हवाला दिया, कि जिस सावु के पास अधिक रूप से सजीव निर्जीव परिग्रह हैं, वह सावु गृहस्थि के समान है। स्थानकवासी समाज के एक वच्चे-वच्चे को यह वात मान्य है। जिस साधु के पास, थोड़ा अर्थात् भण्डोपकरण से कुछ ही अधिक एक कानी कौड़ी जितना भी और परिमाण से वहुत कुछ

अधिक अर्थात् हजारों-लाँखों रुपयों का परिग्रह हो; सजीव हाथी घोड़े, गाय, आदि पशुधन और निर्जीव सोना, चाँदी, आदि का थोड़ा या कुछ-बहुत भी परिग्रह हो सचमुच मे वह तो पक्का गृहस्थी है। साधु उसे कहता ही कौन है ? इतने पर भी जो अपना हठ-धर्मी-पन नहीं छोड़ता वह साधु होते हुए भी अ-साधु है।

स्थानकवासी, साधु अपने पास जो भी वस्त्र तथा पात्र रखते हैं, वे केवल उतने ही मर्यादित-रूप मे जितने की भगवान ने शास्त्रों द्वारा इजाजत दी है। परन्तु इन परिमित पात्रादि उपकरणों के रखने मे किसी भी प्रकार का परिग्रह यदि होता तो स्वयं भगवान् महावीर इन्हें पास रखने की इजाजत ही क्यों देते ? सजीव चेले बनाना परिग्रह नहीं है। यदि यह परिग्रह माना गया होता, तो स्वयं भगवान महावीर ही गणधारादि को दीक्षित कभी न करते। उन्हें अपने शिष्य बनाते ही क्यों ? अतः भ्रमचारी जी का, सजीव अर्थात् चेलों और अजीव अर्थात् वस्त्रों आदि को परिग्रह लिखना और मानना, निरा मिथ्या, और एकदम पागलों का प्रलाप-मात्र है।

भ्रमचारी जी ! श्वेताम्बरों के सूत्रों मे तो नगे-धड़ंग रहने का कहीं रत्ती-भर भी कोई उल्लेख नहीं। और तो और जिनकल्पियों तक के लिए भी कटि से घुटने तक के प्रमाण का वस्त्र रखने और भिक्षा के हेतु बस्ती मे आते समय उसे पहन कर आने का विधान है। पर नंगे रहने का तो

कहीं एक भी प्रमाण नहीं। वेचारे नगे गुरु के शिष्य भ्रमचारी जी के सिर इस भ्रम का भूत सचार हो रहा है, कि नग्नता के अनेकों मन्त्र श्वेताम्बर सूत्रों में हैं। परन्तु मन्त्र यदि थे तो भ्रमचारी जी को उन्हें वहाँ उद्धृत करते हुए अपने नक्द धर्म का पूरा परिचय दे देना चाहिए था। फलत: नंगे रहने का मत संसार मे स्थिर हो गया होता। परन्तु वे ऐसा करते भी तो कैसे और कहाँ से उन्हें तो ऐसा लिखकर अपने दिगम्बर समाज को धोखा-मात्र देना था। पाठको यह तो वात हुई कि जहाँ कीचड़ तक की बूँद का कोसों पता नहीं वहीं भ्रमचारी जी, पानी के एक सरोवर को लहराता हुआ दिखाने की धृष्ठता कर रहे हैं।

आगे चलकर, भ्रमित वुद्धि के भ्रमचारी जी, महाराज भर्तृहरि द्वारा लिखित 'वैराग्य-शातक' के ७२ वें श्लोक की अर्द्धाली के अन्त वाले 'दिगम्बर:' शब्द को देख कर दुम हिलाते हुए, फूलकर कुप्पा वन वैठे। और उसे अपनी प्राचीनता का प्रमाण वता कर तथा मान कर, थाई-थाई करके नाचने लगे। वाहरे! परायो के घर और माल पर गुलछर्रे उड़ाने वाले! धन्य! अजी तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं कि यह शब्द मूल में सनातन धर्मी भाइयों का है। तुम उसे हथियाने भी तो कैसे लगे? भ्रमचारी जी! सनातन धर्मी भाइयों के यहाँ जो परमहंस सन्यासी होते हैं, वे सदा-सर्वदा वन प्रदेश और पर्वत की कन्दराओं ही मे विचरते रहते हैं, वस्तियों में तो वे कभी भूल कर भी नहीं आते वे प्राय: 'दिगम्बर' ही होते हैं। वे अकसर नंगे ही रहते

परन्तु उन में से भी जो लोग बस्तियों मे कभी आते हैं, तो कौपीन धारी तो वे अवश्य ही होते हैं। साँगोपाँग नंगे तो कभी भी नहीं होते। और तो और उनके यहाँ जो एक प्रकार के साधुओं की जमात, केवल 'नागों की जमात' ही के नाम से प्रसिद्ध है, वे भी दर-असल नंगे कभी नहीं रहते। कुम्भ अथवा सिंहस्थ के मेलों के समय, हमारी इस सत्यता को आँखों वालों ने हरिद्वार, प्रयाग, आदि स्थानों मे अवश्यमेव परखा होगा। परन्तु जो व्यक्ति जन्म ही से हीये का अन्धा है वह इस तथ्य को जाने भी तो कैसे और कहाँ से? सनातनियों के यहाँ के जहाँ भी कहीं दिगम्बर शब्द आता है वहाँ उन्हीं के मतानुयायी परमहंस सन्यासियों ही के लिए उस 'दिगम्बर' शब्द का प्रयोग होता है। तथा आज तक हुआ है। यूँ सनातनियों के ग्रन्थों मे से 'दिगम्बर' शब्द को लेकर भ्रमचारी जी अपने-आप के प्राचीन होने का दम भरें, यह इनकी कैसी गम्भीर और भयंकर भूल है! वाहजी! भ्रमचारी जी! परायों के माल को हड़प कर साहूकार बन बैठने की यह तो बड़ी ही निराली चाल आपने सीखी!

यदि वास्तव मे देखा जाय, तो जैनियों से सम्बन्ध रखनेवाला प्राचीन मूल शब्द तो "निर्ग्रन्थ मुनि" है। परन्तु इस के स्थान पर आनेवाला 'दिगंबर' शब्द तो बिलकुल ही अर्वाचीन है प्राचीन नहीं। अतएव, विद्वद् समाज के सम्मुख तो दिगंबर-शब्द सम्बन्धी कोई भी और कितने ही प्रमाण, युक्तियुक्त, न्याय-संगत,

प्रमाणिक, और समादृत नहीं हो सकते !

भाई भ्रमचारीजी ! अपने वैराग्य-शतक में, महाराज भर्तृहरिजी ने, परम-हंस सन्यासियों को सम्बोधित करते हुए ही वहाँ 'दिगंबर' शब्द का प्रयोग किया है । न कि जैनियों के दिगंबर नंगे साधुओं के लिए। परन्तु भ्रमचारीजी की थोथी और निरंकुश बुद्धि की बलिहारी है, कि वे इस शब्द को अपने नंगे गुरुओं के लिए समझ रहे हैं।

भ्रमचारीजी ! क्या यजुर्वेद मे महावीर को नग्न होने का स्वप्न देख रहे हो ? अरे तुम्हारी नग्न बुद्धि ही के कारण तुम्हे यजुर्वेद मे भी नग्नत्व नजर आ गया। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के १४ वें श्लोक को उद्धृत करके उसका मनघड़न्त अर्थ लिख कर क्यों जनता को धोखे मे डाल रहे हो ? प्रिय पाठको ! आप जरा भ्रमचारीजी की इस सच्चाई को भी परख लीजिए। वे इस श्लोक का अर्थ लिखते हैं; कि "अतिथ स्वरूप मासोपवासी नग्न-स्वरूप महावीर की उपासना करो जिससे संशय, विपर्यय, अन-ध्वसाय, रूपी तीन अज्ञान और धनमद, शरीरमद, विद्यामद, की उत्पत्ति नहीं होती है।" अब इसी श्लोक का अर्थ यजुर्वेद के पृष्ट ६४ पर लिखा है। जरा उसको भी पढ़ लीजिए कि—"महावीर अर्थात् यज्ञ से घर्मेष्टि का रूप है, राष्ट्रपक्ष मे नग्न अर्थात् अकिंचन पुरुषों को अन्न वस्त्रादि प्रदान करना ही 'महावीर' बड़े वीर्यवान् त्यागी पुरुष का रूप है।" कहिए भ्रमचारीजी ! अब तो तुम सरासर मिथ्याभाषी हुए न ?

भ्रमचारीजी ! अभी तो, भर्तृहरि-शतक के वैराग्य-प्रदेश मे प्रवेश कर, 'दिगंबर' बनने की बातें सोच रहे थे। अब वहाँ से छलाँग मार कर हिन्दुओं की पद्म-पुराण के प्रान्त में जा बैठे। अब तो उसके श्लोकों का उद्धरण कर, अपने दिगंबरत्व की नगाई का प्रदर्शन आप करने चले हैं। परन्तु वहाँ से शशक-शृंग के समान, आप को मिलनेवाला भी क्या था। भ्रमचारीजी ! क्यूँ, लाख-करोड़ छलाँगें मार रहे हो ? क्यूँ आकाश-पाताल के कुलावे एक कर रहे हो ? शशक-शृंग न कभी था ही, न है ही, और न कभी होगा ही। इस नाते आपके दिये हुए पद्म-पुराण के श्लोकों मे भी तो दिगंबरत्व की बू तक तो है नहीं। वाह भाई खोदा तो पहाड़, और निकली चुहिया ! और वह भी मरी हुई। पाठको ! ज़रा आप भी देख जाइये कि हिन्दुओं की पद्म-पुराण में. जो नीचे का श्लोक दिया हुआ है, उसमे दिगंबरता, बेचारी किस कोने में छिप कर बैठी ? जिस कारण, भ्रमचारीजी ने उसे प्रमाण-स्वरूप में पेश किया है। वह श्लोक हुबहू यूँ है——

'अर्हन्तो देवता यत्र, निर्ग्रंथो दृश्यते गुरुः।
दया चैव परोधर्मस्तत्र मोक्ष प्रदृश्यते ॥,'

भ्रमचारी जी ! इस श्लोक से तो 'दिगंबरत्व' की कहीं कोई एक बूँद तक न टपकी। जान पड़ता है, आप की शिक्षा और शिक्षक, दोनो-के-दोनों बिलकुल बेकार-से-रहे, इस का कारण, कदाचित, आपने पढ़ाई मे पूरे पैसे नहीं खर्चे। हाँ, खर्चने भी कहाँ से ? पेट-पालन भी, जब पराये

के आगे हाथ पसारने पर होता है, तब शिक्षा की तो चलाई ही कहाँ से ? भ्रमचारी जी ! इस श्लोक में, निर्ग्रंथ मुनियों का उल्लेख तो अवश्य ही आया है। और उन्हीं का इस श्लोक में वर्णन भी है। परन्तु दिगंबरों का वर्णन तो इस मे कहीं नाम तक को नहीं।

आगे चल कर, भ्रमचारी जी ने, 'कुसुमांजली' और 'तैत्तरीय अरण्य' के प्रमाणों को उद्धृत किया है, जो सब-के-सब, हिन्दू सनातनीय बन्धुओ के उन साधुओं से सम्बन्ध रखते हैं, जो वहाँ 'परम-हस-सन्यासियों' के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी प्रकार, वाल्मीकि-रामायण, और महा-भारत, आदि मे भी, जहाँ-जहाँ, यह 'दिगंबर' शब्द आया है, एक-मात्र, यह उन्हीं परम-हंस-सन्यासियों के सम्बन्ध मे आया है। इतने पर भी, भ्रमचारी जी को, अपनी भ्रमित बुद्धि के कारण, यदि यही भ्रम हो गया हो, कि बस, जिन के भी पास वस्त्र नहीं हैं; जगत मे जितने भी प्राणी नंगे हैं, वे सब-के-सब,हमारे दिगंबर गुरु ही हैं। अच्छा तो फिर यही सही। आप की इस समझ को पलट भी तो,कौन, कैसे सकता है ? इस का तो हमारे पास भी, क्या चारा है ? तब तो, बिल्ली, घोडे, गधे, खच्चर ऊँट और पागल मनुष्य, आदि-आदि, जगत् के जितने भी नंगे प्राणी है,उन सब को भी भ्रमचारी जी, अपने नगे दिगबरी गुरु ही समझ लिया करें, और मान लें तो इस मे हमारा अपना बिगड़ता ही क्या है ? हम उन की इस मान्यता मे

भ्रमचारीजी ! अभी तो, भर्तृहरि-शतक के वैराग्य-प्रदेश में प्रवेश कर, 'दिगंबर' बनने की बातें सोच रहे थे। अब वहाँ से छलाँग मार कर हिन्दुओं की पद्म-पुराण के प्रान्त में जा बैठे। अब तो उसके श्लोकों का उद्धरण कर, अपने दिगंबरत्व की नगाई का प्रदर्शन आप करने चले हैं। परन्तु वहाँ से शशक-शृंग के समान, आप को मिलनेवाला भी क्या था ! भ्रमचारीजी ! क्यूँ, लाख-करोड़ छलाँगें मार रहे हो ? क्यूँ आकाश-पाताल के कुलावे एक कर रहे हो ? शशक-शृंग न कभी था ही, न है ही, और न कभी होगा ही। इस नाते आपके दिये हुए पद्म-पुराण के श्लोकों मे भी तो दिगंबरत्व की बू तक तो है नहीं। वाह भाई खोदा तो पहाड, और निकली चुहिया ! और वह भी मरी हुई। पाठको ! ज़रा आप भी देख जाइये कि हिन्दुओं की पद्म-पुराण में. जो नीचे का श्लोक दिया हुआ है, उसमे दिगंबरता, बेचारी किस कोने में छिप कर बैठी ? जिस कारण, भ्रमचारीजी ने उसे प्रमाण-स्वरूप में पेश किया है। वह श्लोक हुबहू यूँ है——

'अर्हन्तो देवता यत्र, निर्गंथो दृश्यते गुरु.।
दया चैव परोधर्मस्तत्र मोक्ष प्रदृश्यते ॥,'

भ्रमचारी जी ! इस श्लोक से तो 'दिगंबरत्व' की कहीं कोई एक बूँद तक न टपकी। जान पड़ता है, आप की शिक्षा और शिक्षक, दोनों-के-दोनों बिलकुल बेकार-से-रहे, इस ही कारण. कदाचित, आपने पढ़ाई मे पूरे पैसे नहीं खर्चे। हाँ, खर्चते भी कहाँ से ? पेट-पालन भी, जब परायो

के आगे हाथ पसारने पर होता है, तब शिक्षा की तो चलाई ही कहाँ से ? भ्रमचारी जी ! इस श्लोक में, निर्ग्रंथ मुनियों का उल्लेख तो अवश्य ही आया है। और उन्हीं का इस श्लोक में वर्णन भी है। परन्तु दिगंबरों का वर्णन तो इस मे कहीं नाम तक को नहीं।

. आगे चल कर, भ्रमचारी जी ने, 'कुसुमांजली' और 'तैत्तरीय अरण्य' के प्रमाणों को उद्धृत किया है, जो सब-के-सब, हिन्दू सनातनीय बन्धुओं के उन साधुओं से सम्बन्ध रखते हैं, जो वहाँ 'परम-हंस-सन्यासियों' के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी प्रकार, वाल्मीकि-रामायण, और महा-भारत, आदि मे भी, जहाँ-जहाँ, यह 'दिगंबर' शब्द आया है, एक-मात्र, यह उन्हीं परम-हंस-सन्यासियों के सम्बन्ध मे आया है। इतने पर भी, भ्रमचारी जी को, अपनी भ्रमित बुद्धि के कारण, यदि यही भ्रम हो गया हो, कि बस, जिन के भी पास वस्त्र नहीं हैं, जगत मे जितने भी प्राणी नगे हैं, वे सब-के-सब, हमारे दिगंबर गुरु ही हैं। अच्छा तो फिर यही सही। आप की इस समझ को पलट भी तो, कौन, कैसे सकता है ? इस का तो हमारे पास भी, क्या चारा है ? तब तो, बिल्ली, घोडे, गधे, खच्चर ऊँट और पागल मनुष्य, आदि-आदि, जगत् के जितने भी नगे प्राणी है, उन सब को भी भ्रमचारी जी, अपने नंगे दिगंबरी गुरु ही समझ लिया करें, और मान लें तो इस मे हमारा अपना बिगड़ता ही क्या है ? हम उन की इस मान्यता मे

रोड़े अटकाने वाले आखिरकार है भी कौन ?

अच्छा, भ्रमचारी जी ! अब हमारी भी जरा सुन लीजिये ! स्थानकवासी साधुओं की प्राचीनता के सम्बन्ध में, हिन्दु पुराणों के केवल एक-दो ही ऐसे सबल प्रमाण यहाँ देंगे, जिन में निर्ग्रन्थ मुनियों के लक्षण और उनके वेश-विन्यास का पर्याप्त विवेचन किया गया है। देखो हिन्दुओं की 'शिव-पुराण' में—

'हस्ते पात्रं दधानाश्च; तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासांसि धारयन्तोऽल्प भाषिणः ॥'

अर्थात् हाथ में पात्र को धारण करने वाले, मुँह पर वस्त्र बाँधने वाले, पुराने कपड़ों को धारण करने वाले और अल्प-भाषी जो होते हैं, वे जैनियों के साधु हैं।

कहो, भ्रमचारी जी ! हिन्दुओं का यह शिव-पुराण, आज से पूरे-पूरे पाँच हजार वर्षों के पूर्व का बना हुआ प्राचीन ग्रन्थ है। इसके ऊपर वाले श्लोक में जो-जो लक्षण जैन-साधुओं के बतलाये हैं, वे-वे लक्षण आपके नंगे दिगंबर गुरुओं में पाये जाते है या श्वेतांबर स्थानकवासी साधुओं में ? अरे, तुम्हारे दिगंबर नागाओं में इस श्लोक के अनुसार वर्णित लक्षणों की बूतक नहीं है, तो फिर वे और उनका सम्प्रदाय प्राचीन हो भी तो कैसे सकता है ? अतः हिन्दुओं की पुराणों से भी श्वेतांबरीय स्थानकवासी जैन-साधुओं ही की प्राचीनता सिद्ध होती है ! तुम्हारे नंगे गुरुओं की नहीं।

इससे जरा ही आगे बढ़ कर, फिर अपनी नंगाई को

सिद्ध करने के लिये, किसी एक फकीर की रहवाई, भ्रमचारी जी ने दी है। यहाँ इन्हें ज़रा तो सोचना-विचारना चाहिए था, कि क्या वह फ़कीर, नंगा रहने से दिगंबर जैन हो गया ? यदि नहीं तो उस का उदाहरण इन्होंने दे कैसे मारा ? इतने पर भी भ्रमचारी जी यदि मुँह खोलें, कि 'हमने यह उदाहरण केवल उसके नंगा रहने ही से दिया है।' तो फिर नंगे तो और भी अनेकों प्राणी रहते हैं। जैसे पागल आदमी; कौए, कुत्ते, ऊँट, खच्चर आदि। क्योंजी, मुसलमान भाइयों के यहाँ नंगा रहना यदि जायज़ होता तो तुम्हारे दिगंबर नंगे गुरुओं का टुलड़ जब हैदराबाद (दक्षिण) मे पहुँचा था, तब उसे वहाँ शहर मे प्रवेश करने से क्यों रोका गया ? तथा उनके नगर-प्रवेश को रोकने के लिये सरकार ने क़ानूनन ऐसी कड़ी रोक क्यों लगाई। क्यों भ्रमचारी जी ! इस सब का क्या कारण था ? और-तो-और अजी आपकी इस महान् संकटापन्न अवस्था में वहाँ के प्रधान काज़ी साहब तक ने आप का तनिक भी साथ क्यों न दिया ? भ्रमचारी जी ! यह इसी गाँव की घटना नहीं है। किन्तु अनेकों राज्यों, शहरों, गाँवों और कस्बों मे ऐसी घटनाएँ एक बार नहीं, वरन् बीसियों बार घटीं, और आज भी आये दिनों घटती रहती हैं। क्या इन सब घटनाओं से यह तथ्य नहीं निकलता, कि मुसलमान भाइयों तक के यहाँ नग्न रहना क़तई जायज़ नहीं है। भ्रमचारी जी ! अभी भी हमारी इस बात का आपको विश्वास न हो, तो लीजिये आप अपने दिगंबर नंगे गुरुओं

को साथ, और चलिये मुसलमान भाइयों के किसी भी मुहल्ले मे, उस रुहवाई को गाते हुए, जिसे आपने उदाहरण-स्वरूप पेश किया है। तब बात-की-बात मे उस रुहवाई का मोल-तोल असली रूप मे आपको मालूम हो जायगा। हाथ-कंगन को आरसी की आवश्यकता ही कौन सी? जरा आज़माइश तो करके देखिये!

नंगाई के कट्टर हिमायती भ्रमचारी जी लिखते हैं, कि 'कपड़ा पहनना एक ऐब को ढाँकना है। इसीलिये हमारे दिगंबर मुनि कपडा नहीं पहनते।' समझ में नहीं आता, भ्रमचारी के मगज़ मे क्या भूसा भर गया है? ऐब ढकने का अर्थ क्या भ्रमचारी जी! क्या नपुंसकता है? यदि तुम्हारी समझ ऐसी ही हो तो फिर तुम्हारे कौपीन-धारी ऐलक और क्षुल्लक सब-के-सब एक सिरे से............ठहर जाते हैं। भ्रमचारी जी! यदि पुरुष-चिह्न ही को आप सम्पूर्ण ऐबों की खदान समझ रहे हो, तो क्यों नहीं आप अपने दिगंबर नंगे गुरुओं के उस पुरुष चिह्न के सम्बन्ध मे आप क्यो न विचार करलें। पाठको! सचमुच मे बात तो ऐसी है, कि भ्रमचारी जी! अभी तक कुछ समझे ही नहीं। भ्रमचारी जी! मर्यादित साधुवेश को धारण करना (पहनना) यही तो साधुता है। जिस प्रकार, स्थानकवासी साधु, मर्यादित वस्त्र को पहिनते हैं, उसी प्रकार दिगंबर नंगे गुरुओं के लिये भी 'चर्या को आने जाने समय' नंगे शरीर पर चटाई लपेट कर आने का विधान है। देखो, उभय-भाषा-कवि-चक्रवर्ती

कलि-काल-सर्वज्ञ, दिगंबर आचार्य, श्रुतसागर जी ने 'दर्शन-पाहुड' की चौबीस वीं गाथा की टीका मे कहा है, कि 'चर्यादि-वेलाया तट्टीसादरादिकेनशरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा ।' अर्थात् चर्या के समय, आहार लेने को जाते समय, चटाई आदि से नग्नता को ढंक लेना चाहिए।' फिर देखो, इसी दिगम्बर मत के 'परमात्म-प्रकाश' के पृष्ठ २३२ की २१६ वीं गाथा की टीका में, ब्रह्मदेव जी ने भी तृणमय आवरण चटाई आदि धारण करने के लिए, जैन-मुनि को छुट्टी दी है। प्रमाण देखिए

'तपः पर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानो-पकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति ।'

—'परमात्म-प्रकाश ।

भ्रमचारी जी ! यदि इतने पर भी तुम्हारी बुद्धि का भ्रम दूर न हुआ हो, तो और देखो। भद्रबाहु स्वामी ने, 'भद्रबाहु-संहिता' के अध्याय सातवें मे लिखा है कि—'भरहे दुसम समये संघकमं मोह्लिऊण जो मूढ़ो । परिवट्टइ दिगविरओ सोसमणो संघ बाहिरओ । पासत्थाणं सेवी पासत्थंपंचचेल परिहीणो । विवरीयट्ट पवादी, अवंदणिज्जो जई होई ।' अर्थात् 'भरत-क्षेत्र मे, दुसम समय, संघ क्रम को उल्लघन कर, अभिमान और टेक के वश दिगंबर (नगा) बन कर घूम रहा हो वह संघ से बाहर समझा जावे। जो पासत्था होकर, सन, सूत, ऊन,' रेशम, और कपास आदि के वस्त्रों को, छोड़-छाड़

कर नंगा बन इधर-उधर फिरता-फिराता है, वह अवन्दनीय है।

भ्रमचारी जी ! यूँ, ये तीन-तीन प्रमाण मौजूद है। इतना होने पर भी तुम्हारे दिगंबर गुरु लोग अपनी तथा अपने शास्त्रों की और अपने परम पावन धर्म की मखौल बाजी उडवाते हैं। अत. अब उन के नग्न रहने मे किसी भी प्रकार की कोई भी भलाई नहीं। दिगंबर समाज भी अब इन से सचेत हो गया है। हम अपने कथन की सचाई के लिए, एक बिलकुल ताजा प्रमाण यहाँ, भ्रमचारी जी की आँखें तथा कान खोलने के लिए दिये देते है। भ्रमचारी जी देखो एटा (यू० पी०) से प्रकाशित होने वाले 'वीर' ने अपने ता० ३० नवम्बर सन् १६३६ ई० के अक मे लिखा है, कि—'अब समाज बहुत सतर्क है। वह किसी की मात्र नग्नता पर, या मात्र संस्कृत श्लोकों पर मुग्ध नहीं हो सकती। समाज ने मुनीन्द्र-सागर, विजय-सागर, जय-सागर और ज्ञान-सागर आदि सागरों की पाखण्ड-लीला का बुरा परिणाम देखा है। इस लिये अब वह सागरों के नाम पर मुग्ध नहीं हो सकते।"

मतलब यह है, कि इन दिगंबर नंगे गुरुओं, भट्टारकों, चट्टकों आदि ने मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण और भाँति-भाँति के यन्त्र-मन्त्र और तन्त्रों के विधानों को बता-बताकर महान् पवित्र जैनत्व को कलंकित कर दिया है। पाठक-वृन्द, प्रमाण के लिये दिगंबर धर्म-रसिक ग्रन्थ के पन्नों को उलट-पलट कर देख सकते हैं। यही नहीं इन दिगंबर भ्रमचारियों ने

ईर्ष्या-भरी पुस्तकों की रचना कर-करके बचे-बचाये जैन-धर्म के वात्सल्यादि अंगों पर अपने बल-भर और भी हड़ताल फिराने की चेष्टा की है और इन्होंने जैन-समाज-जैसे शान्ति-प्रिय समाज मे, ईर्ष्या, कलह, राग, द्वेष, वैमनस्य आदि की दावाग्नि फूँक-फूँक कर समाज की रही-सही शक्ति सम्पत्ति, समय और श्रम को और भी अधिक वेगाना, वेकार और घुने गेहूँ-सा कर दिया है।

स्थानकवासी साधु तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण वग़ैरह मन्त्रों पर अपना लक्ष्य ही कभी नहीं रखते। और न वे कभी किसी को ऐसे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र बताते ही है। ऐसा करना-कराना न तो वे साधु का धर्म ही समझते हैं और न ऐसे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्रों का उनके बत्तीस सूत्रों मे कहीं कोई उल्लेख तथा विधान ही है। भ्रमचारी जी, यदि ऐसी अनर्गल बातों को सिद्ध करना ही अपना धर्म और कर्तव्य मानते थे, तो उन्हे किसी आगम-सूत्र का प्रमाण तो अवश्यमेव ही पेश कर देना चाहिए था। जैसा कि हमने यत्र-तत्र दिगंबर ग्रन्थों के प्रमाण दे-दे कर उनकी आँखें खोली हैं, और उनकी छाती पर मूँग दले हैं। भ्रमचारी जी! आपके दिगंबराचार्य केवल मारण, मोहन आदि के मन्त्र रच करके ही नहीं रह गये, अपितु उन्होंने तो इतनी ऊँची उड़ानें लगाई है, कि क्षेत्र-पाल, भैरव, भवानी, चण्डी, काली, महा-काली आदि देवी-देवताओं के पूजने तक

का विधान उन्होंने वता दिया है। प्रमाण के लिये, 'दिगंबरों के धर्म-रसिक ग्रन्थ' और 'चर्चा-सागर' के पन्ने खोलिये। भ्रमचारी जी ने स्थानकवासियों पर कुदेवों के पूजने का झूठा लांछन लगा कर, अपने घर के मिथ्यात्व को छिपा रखने की चेष्टा तो लाख-लाख-रूप से की थी परन्तु वे सव-की-सव विलकुल वेकार सिद्ध हुईं। भ्रमचारीजी को इतना तो अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए था, कि स्थानकवासी समाज, वुत परस्ती से छत्तीस(३६) का सम्बन्ध रखता है। अत. वह वुत-परस्ती तो तव हो ही कैसे सकता है? वह तो वुत-परस्ती का जोर-शोरों से खण्डन करता है, और करनेवाला है। कुदेवो की कौन चलाई, वह तो सुदेवों तक को जो निराकार है, उन्हें साकार के रूप में कल्पना करके पूजना भी मिथ्या समझता है। इस के विषय मे उसके अपने पास अनेकों ग्रन्थ भी लिखे हुए हैं। कुदेवों के पूजन के लिए स्थानकवासी के किसी भी आगम मे कोई भी उल्लेख नहीं। अव रही शीतला पूजने की वात। इसके लिए भी भ्रमचारीजी सव से पहले अपना ही घर टटोल देख लेते, कि दिगंवर मतानुयायी माताएँ और वहिनें शीतला-पूजन को जाती है या नहीं? तो वड़ा ही अच्छा होता। दूसरा व्यक्ति, भ्रमचारीजी का नाक पकड़ कर वतलावे, इससे तो पहले यही भला होता, कि वे स्वय अपना ही नाक टटोल कर देख लेते। कहिये भ्रमचारीजी 'है कोई माकूल जवाव इस वात का आप के पास? यदि नहीं, तो मन को मसोस कर कह दीजिये कि हाँ दिगंवर समाज की महिलाएँ शीतला-पूजन को जाती तो

अवश्य हैं।' भाई! जब तुम्हारे खुद ही के घर के कुत्ते तुम; से हटाये नहीं जाते, तब दूसरों के घर की चौकीदारी तुम कब से और कैसे करने लगे? जिस प्रकार, दिगंबरमत की महिलाएँ शीतला-पूजन को जाती हैं, उसी प्रकार, 'संगात्सगदोपेन् सती च मति विभ्रमात्' की युक्ति के अनुसार, स्थानकवासी धर्मानुयायिनी महिलाएँ भी, कदाचित् तुम्हारी देखा—देखी शीतला-पूजन को जाया करती होंगी।

भ्रमचारी जी! स्थानकवासी गृहस्थी लोग तो भैरव, भवानी, चण्डी, मुण्डी, काली, महाकाली आदि के पूजन को बिलकुल मिथ्या समझ कर कभी भी नहीं करते-धरते। और न वे कभी उन देवों के पुजारी मुल्लाँ, मूँज, बब्बर, जुलाहे, चमार, चूड़ा (भंगी) धीमर, जोगी आदि नीच कौम के लोगों ही के चरणों मे सिर झुकाते हैं। वे तो अपने सच्चे निर्ग्रन्थ गुरुओं के सिवाय उच्च जाति के पूजनीय व्यक्तियों के चरणों मे भी, धार्मिक भावना से, कभी भूल कर भी सिर नहीं झुकाते। परन्तु हाँ, कदाचित्, तुम्हारे दिगम्बर गृहस्थी लोग तो, इन नीच कौमों के लोगों के चरणों मे अपना सिर अवश्य ही झुकाते रहते होंगे। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो दिगम्बर-धर्म रसिक वगैरह ग्रन्थों मे क्षेत्र-पाल, भैरव, भवानी, चण्डी, मुण्डी, काली, महाकाली आदि-आदि के पूजन का विधान और मन्त्र, तन्त्र क्यों बताये जाते? और, जब इन देवों के पूजन का विधान वहाँ है, तो निर्विवाद-रूप से

सिद्ध हो गया, कि दिगंबर गृहस्थी लोग, अवश्यमेव उपर्युक्त कुदेवों के पूजारियों, जो मुल्लाँ, मूँज, बच्चर, जुलाहे, चमार; चूडा धीमर, और जोगी आदि नीच क़ौमों के लोग होते हैं, के चरणों मे अपना सिर झुकाते होंगे। भ्रमचारी जी! क्या इस से भी वढ़ कर और किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? क्यों अब तो, पूजन के विधान से, नीच कौमों के लोगों के चरणों मे सिर झुकाने की बात, हुई न दिगम्बरों के लिये स्वयं-सिद्ध ?

भ्रमचारी जी! स्थानकवासी गृहस्थियों मे तो कोई एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं, जो कुदेवों के स्थानों पर जा कर, बलि-दान चढ़ाता हो। यह काम तो आपके ही यहाँ हुआ करता होगा। क्योंकि इस के लिये उनका मार्ग साफ है। आपके दिगंबर धर्म-रसिक-ग्रन्थ और चर्चा सागर, उन्हें इस बात का विधान बता रहे हैं। जनाब, आवश्यकता ही तो आविष्कार की जननी है। यदि इन बातों की, आपके घरों में, जरूरत ही जब न होती, तब विधान भी बनने क्यों लगते? वाह! तब तो 'आप बुरा, तो जग बुरा" के न्याय-नियम से तुम खुद जैसे हो, वैसे ही औरों को देखने का स्वप्न भी तुम देख रहे हो।

अब देवों पर प्रसाद चढ़ाने और खाने की बात को लीजिये। भ्रमचारी जी! स्थानकवासी गृहस्थ न तो कभी किन्हीं देवों और मन्दिरों पर प्रसाद ही चढ़ाते हैं, और न वे

वहाँ केचढ़े हुए प्रसाद को कभी खाते ही हैं। किन्तु दिगंबर गृहस्थों के ससर्ग से ऐसे प्रसाद को, वे लोग कदाचित् कभी खाने लगे हों, तो हमें इस बात का पता नहीं। क्योंकि "संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति' का न्याय तो सदा-सर्वदा अपना काम करता ही रहता है। संसर्ग से छूत-जन्य रोग एक दूसरे को लग ही जाते हैं। इस का उपाय किया भी तो क्या जाय!

मिस्टर भ्रमचारी जी! पाषाण की मूर्ति चाहे ऋषभ-देवजी की, अथवा चाहे महावीर की या और भी किसी देव की वह क्यों न हो, स्थानवासी साधु तो उसे भगवान् मान कर पूजना मिथ्यात्व ही समझते हैं। इसी प्रकार रागी, द्वेषी एवं मासाहारी कुदेवों का पूजन भी वे अपने साधुत्व की तौहीन मानते हैं। यही नहीं वे उसका घोर विरोध भी करते हैं। तब, अब, आप ही अपनी आँखों पर चश्मे की टुपट्टी चढ़ा कर बताइये, कि कुदेवों का पूजन स्थानकवासियों के हिस्से मे बच कहाँ से जाता है?

भ्रमचारी जी! तुम्हारे दिगवर मत में बलि चढ़ाना, चंडी, मुण्डी, वगैरह कुदेवी-देवताओं की पूजा करना, योनि-पूजन, गौ ब्राह्मण तक की हत्या करने पर, केवल कुछेक उपवास करके ही शुद्ध हो जाना, फलाॅ वीर्य उत्तर तथा फलाँ निकृष्ट है, ऐसा मानना; आदि अनेकों पोच-से-पोच और थोथी-से-थोथी बातों के यत्र-तत्र यथेष्ट विधानों के भरे पड़े रहने पर भी तुम अपने दिगंबर मत के पवित्र होने का गर्व करते

हो ? अरे ऐसे-ऐसे महान् अधम कोटि के, एक नहीं, वरन् अनेकों विधानों के तुम्हारे यहाँ होते हुए भी, तुम अपने को 'जैन' कहलाने का दावा करते हो ? छिः ! छिः !! धिक्कार है तुम्हारे ऐसे जैनत्व पर ! और सैकड़ों बार थू ! थू !! तुम्हारी ऐसी लोक-हँसाऊ नंगी साधुता पर !!!

भाई भ्रमचारी जी ! यह भी तो सब भाग्य ही का खेल है, कि तुम्हारे दिगंबर नंगे गुरु लोग तो कम-से-कम अपनी नगाई ही का प्रदर्शन करके इधर-उधर के घरों मे भाँति-भाँति के माल और मिठाइयाँ, मेवे और पक्वान तथा फलादि पर अपने हाथ साफ करते फिरते हैं। फिर उनके लिये इस प्रकार का ठाट-बाट और आरम्भ एक नहीं, वरन् पचासों घरों में होता है । लेकिन यार ! फूटी तकदीर है, तो तुम-जैसे अड़ियल अक्ल के भ्रमचारियों ही की, कि जिसे अपने पापी पेट के पोखर को भरने के लिये, आज वहाँ के, तो कल वहाँ के धक्के खाने पड़ते हैं । सच है,—

'दाख पके दुख होत है, कंठ काग के रोग ।
भाग्य–हीन को ना मिले, भली वस्तु को योग ॥'

भ्रमचारी जी ! गप्पे मारने मे, यदि कोई पारंगत होना चाहे, तो वह तुम से आ कर सीखे । तुम इस काम मे बड़े ही सिद्ध-हस्त हो । अरे खरहे के भी सींग तुमने अपयी वजर बुद्धि से पैदा कर दिये ! क्योंकि स्थानकवासी साधु न तो कभी अपने लिये वनाया हुआ भोजन ही लेते हैं, और न कभी अपने

निर्धारित मकान पर लाया हुआ भोजन ही वे ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार न तो ये साधु, कभी सट्टे-सपाटे ही किसी को बताते हैं और न किसी प्रकार की झूठन-कूॅठन ही ग्रहण कभी ये करते हैं। परन्तु भ्रमचारी जी ने व्यर्थ ही मे ये बिना सिर-पैर के गपोडे मारे हैं। स्थानकवासी साधुओं पर ऐसे-ऐसे झूठे और पागलों के प्रलाप—जैसे आरोप रख कर भ्रमचारी ने केवल अपनी द्वेष-भरी बुद्धि ही का परिचय दिया है।

पाठको! स्थानकवासी साधु न तो कभी नीच जाति के घरों ही से भोजन लाते हैं, और न कभी किसी भी प्रकार के सडे-गले और गॅदले भोजन ही को वे ग्रहण करते हैं। इस बात का विवेचन हम ऊपर कई स्थलों पर पर्याप्त रूप से कर आये हैं। उसके लिये यहाँ और कुछ लिखना केवल पिष्ट-पेषण मात्र होगा।

पाठको! भ्रमचारी जी इस बात का रोना रोते हैं, कि 'हमारे दिगम्बर घरों को, श्वेताम्बरी लोग बहकाते हैं। यही नहीं, हमारे कई घरों को, समय-असमय वे हड़पते भी चले जा रहे हैं। पाठको भ्रमचारी जी का यह प्रलाप कितना दयनीय है। वे यह नहीं जानते कि ज़माना तो साथ देता है सच्चाई का! जहाँ भी कहीं सच्चाई जनता देखेगी, तत्काल ही लोह-चुम्बक की भाँति उसी ओर वह लपक पड़ेगी। बहकाने से कोई किसी की दम-पट्टी मे आने वाला ही कब तक? परन्तु वह तो एक-मात्र सच्चाई ही होती है, जिसमे जादू-का-

सा असर होता है। जिसकी ओर जनता का आकर्षण, बिलकुल ही स्वभाविक होता है।

आगे चलकर, भ्रमचारी जी ने आचारँग जी सूत्र के पृष्ठ ५४१ का उद्धरण देकर जो २३ वीं गाथा लिखी है, उस से तो उनकी पूरी-पूरी निरक्षरता का पता सहज ही में लग सकता है। वहाँ वे गद्य को गाथा (पद्य) कह रहे हैं। यही तो है उनकी पूर्ण अज्ञानता का प्रत्यक्ष परिचय। उनके इस एक उदाहरण-मात्र से ही कृपालु पाठक भली भांति समझ सकते हैं, कि भ्रमचारी जी ने अपनी सारी-की-सारी पुस्तकों में सभी जगहों पर इसी प्रकार की भ्रष्ट और व्यर्थ तथा अंट-सट बातें लिख मारी है। और उनसे अर्थ का अनर्थ कर डाला है।

भ्रमचारी जी ! इस मूल-पाठ से क्या आप अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं ? कदापि नहीं। इस पाठ से तो, यह स्पष्ट हो जाता है, कि मुनि को यदि टट्टी की हाजत हो, तो अपने पास के अथवा दूसरे के पास के पात्र को लेकर, वह एकान्त जंगल में जाकर टट्टी-फराकत हो आवे। प्रत्येक स्थानकवासी साधु के पास चार-चार पात्र होते हैं। तुमने तक इस बात को स्वयं अपनी ही लिखी हुई पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर स्वीकार किया है, कि 'कई-कई काठ के पातरे रखते है।' उन्हीं चार पात्रों मे से एक, जिसे टट्टी जाते समय ले जाते हैं, बिलकुल अलग ही रक्खा जाता है। उस के अन्दर खाने-पीने

का कोई भी पदार्थ कभी भूल कर भी नहीं रक्खा जाता। अब इस के विपरीत ज़रा तुम्हारे दिगवर नंगे मुनियों की बात को लो। उनके पास तो केवल एक-ही-एक काठ का पात्र (कमण्डल) होता है। वे उसी से टट्टी फिरते हैं; और उसी से हाथ साफ करते होंगे ? एक बात ज़रा और कहिए तो। आपके दिगंबर नंगे मुनि को कभी वमन हो जाय, तो उसी कमण्डल के पानी से कुरले भी करते होंगे न ? कमण्डल तो वही एक ही टट्टी जाते समय का और कुरले करते समय का। वाह ! क्या इसीलिये छाती फुला-फुला कर तुम ऊँचे बोल बोलते हो, कि हमारे नंगे गुरुओं की शुद्धता बड़ी ही आदर्श है ? क्यों जी, तो टट्टी फिरते समय काम मे आने वाला वही एक-ही-एक कमण्डल उसी समय, कुल्ले करते मे, शुद्ध कहाँ से और कैसे हो जाता होगा ? भाई !—

'पर—भंडा फोडन चले, ऊँचे कहि-कहि बोल।
छाती पीटन अब लगे, जब खुल गई खुद की पोल॥'

आगे चल कर भ्रमचारी जी ने, एक ही पात्र को रखने के लिये आचारॅग जी सूत्र के पृष्ठ १८६ का प्रमाण दिया है। परन्तु वह तो एक दम गलत है। क्योंकि उस पृष्ठ मे तो, एक ही पात्र रखने के सम्बन्ध का कहीं कोई नाम तक नहीं। अरे, खुद तुमने तक स्वीकार किया है, कि स्थानकवासी साधु अनेक पात्र रखते है। तब तो प्रत्येक स्थानकवासी साधु चार-चार पात्र रखते हैं या नहीं, इस बात को तुम यदि सचमुच मे

समाखे हो, तो खुद भी साक्षात्कार कर सकते हो। इतने पर भी तुम यदि बार-बार एक ही पात्र के रखने का रोना रो-रो कर अपना सिर फोड़ना चाहते हो, तो इसका तो कोई कर ही क्या सकता है? खुद का खुद है, भी तो कौन? जौंक, गाय के स्तन से चिपक कर, आखिरकार सडियल खून ही को तो पीती रहती है। दूध पीना उसके फूटे भाग्य में बदा भी कहाँ है? सच है, जिस का जैसा स्वभाव पड़ जाता है, वह वैसा ही ता करता है। इससे हमें क्या? हमारे इस कथन की सचाई को दुनिया जानती है। परन्तु हाँ, एक पात्र तो तुम्हारे दिगंबर नंगे गुरु ही रखते हैं, जिससे टट्टी भी वे हो आते हैं, और वमन आदि के समय उसी से कुल्ले भी वे कर लेते होंगे। भ्रमचारी जी! ऐसा करना, तुम चाहे मानो या न मानो, परन्तु साधुता में तो शुमार नहीं। यह तो ओघड़ों की करणी हुई।

अब ब्रह्मचारी जी, "बृहद्-कल्प-सूत्र" के पृष्ठ ६१ का उद्धरण देते हैं। परन्तु है वह भी बिल्कुल गलत। क्योंकि उसके पृष्ठ ६१ वें पर, इस विषय का कहीं कोई जिक्र तक नहीं। और जो ४६ तथा ४७ वें नंबर का मूल-पाठ दिया है, वह भी निरा अप्रासंगिक ही है। आखिरकार भ्रमचारी ही तो ठहरे। उन मूल पाठों के भाव को भ्रमचारी जी जरा भी समझ नहीं पाये हैं। किसी "गप्पै भोजन, गप्प चवैना" वाले माँसाहारी व्यक्ति से, केवल पागलों के प्रलाप जैसी "कल्पित-कथा समीक्षा" नामक पुस्तक लिखवा कर, अपने नाम मात्र की प्रसिद्धि के लिए, उस

के मुख पृष्ठ पर अपना नाम धरवा भ्रमचारी जी ! ४६ तथा ४७ वें नंबर के मूल-पाठों के स्पष्टार्थों को ज़रा अपनी ऑखें खोल कर पढ़ने और समझने का कष्ट उठाते तो, इस प्रकार उन्हे कभी भूल कर भी भ्रम मे न फंसना पड़ता। इन मूल पाठों का अर्थ यह है, कि 'यदि किसी साधु को चोट फेंट लग जाय, या सर्पादिक डॅस जाय, और उस जगह पर यदि नर-मूत्र लगाने की हाजत न हो तो दूसरों मगर उस समय, यदि अपने को मूत्र की हाजत न हो, तो दूसरों से उसे वह उस समय ले सकता है।' अब हम पूछते हैं, कि इस मे बुरी बात है भी तो कौनसी ? आज भी हॉस्पिटल से कोसों दूर रहने वाले बेचारे गरीब और दीन-हीन किसान लोग; घास अथवा खेती काटते समय, जब समय असमय दराँतों के भयंकर घाव खा जाते है, उस समय, "Tincture Iodine" (टिंक्चर-आयोडीन) जैसी, रक्त के वेग को शीघ्रता से रोकने वाली औषधियाँ, लावें तो भी कहाँ से और कैसे ? क्या, उस समय, उन की मरहम पट्टी करने के लिए भ्रमचारी जी जाते होंगे ? अड़ियल अक्ल के भ्रमचारीजी, उस समय वे गरीब किसान लोग, अपने पेशाब ही को तो उस घाव पर काम मे लाकर, उस के प्रचंड रक्त-स्राव को रोकते है। उन के वहाँ, वह नर-मूत्र ही औषधि का काम देता है। भ्रमचारीजी ! अभी तुम्हें इस बात का कदाचित् कोई पता ही नहीं, कि आज के डाक्टर लोग, अपनी बाज़ २ औपधियो मे नर-मूत्र ही नहीं वरन् उस से भी अधिक बुरी-बुरी वस्तुएँ काम मे लाते हैं। जिन के लगाते ही बडी दुर्गंध छूटती है। क्या तुम्हें नहीं

मालूम, कि सरकारी हॉस्पिटलों में घावों को सुखाने वाले जितने भी प्रकार के मरहम होते हैं, उन सब मे चर्बी का मिश्रण अवश्यमेव होता है। भ्रमचारी जी परलोक से ज़रा डरा करो। क्यों, किसी के सिर झूठे-झूठे इल्ज़ाम तुम बैठे-ठाले मढ़ा करते हो।

भोले भ्रमचारी जी! पूज्य अमोलक ऋषि जी ने श्वेताम्बर मन्दिरमार्गियों के, सन् १९८८ ई० के छपे हुए प्रतिक्रमण का जो उदाहरण दिया है, वह यहाँ युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि इस उदाहरण को देकर उन्होंने भूल की है। और इस भूल का समुचित समाधान भी अजमेर-मुनि-सम्मेलन के समय कर दिया था। फिर उसी बात का उदाहरण देना, अपनी बोथरी बुद्धि का परिचय करवाना मात्र है।

भ्रमचारी जी! स्थानकवासी सम्प्रदाय की आम्नाय के बत्तीसों सूत्रों में कहीं भी ऐसी अश्लीलता पूर्ण और भद्दी बातें नहीं हैं, कि जिनके लिए शर्म की जाय। शर्म का तूफान तो भ्रमचारी जी के दिल-दरियाव मे आते रहना चाहिए, कि उनके दिगम्बर शास्त्रों मे जिन्हें वे भगवद्वाणी कह के पुकारते हैं, ऐसी अश्लीलता भरी पड़ी है, कि जिन्हें देख कर, कोकशास्त्र तक की छाती थर्रा जाती है। पाठको! फिर भी तुर्रा यह कि, बात-की बात मे 'भगवान्' ने फर्माया है, कि दुहाई दी गई है। सज्जनो! लीजिये, जरा इस भगवद्वाणी का नमूना तो देखिये!

हरिवंश पुराण के हरिवंश की उत्पत्ति-प्रकरण मे कौशाम्बी का वर्णन करते हुए लिखा है, कि—अपने चूतड़ और छाती

के बोझ को न सम्हाल सकती हो।······ ······ ·· ······भूषणों से सज-धज कर, रात को प्रसन्न-मुख से, अपने अपने अनेकों प्रेमियों के मुख को चूमती हो।' भ्रमचारी जी ! यह तो हुआ आपके दिगंबरीय शास्त्रों के उपमालुंकारो का नमूना। ज़रा और आगे बढ़िये !

'सेठानी ने राजा को खूब ज़ोर से चिपटा लिया। वे दोनों कामी, कभी परस्पर, भुजाओं से आलिंग करते, कभी एक दूसरे को चूमते; चूसते, और काटते। कभी कंठ और बालों को पकड़ते, और कभी वे दोनों मिल कर, एक दूसरे का अंगप्रत्यंग स्पर्श करते ।············ क्रीडा करते-करते,जब वे दोनों थक गए, और दोनों ही पसीने मे डूब गये, तो वे दोनों आपस मे चिपट कर सो रहे।'

भ्रमचारी जी ! यह है आपके दिगंबरीय राजा की व्यभिचार-लीला का ताडव नृत्य ! उस ने सेठ की स्त्री के साथ, केवल यह काम-क्रीड़ा ही नहीं की, वरन् उस ने उसे सदा के लिए अपने घर मे डाल ली। यह सब कुछ हुआ और खुले आम हुआ। तिस पर भी काम का गुलाम, विषय-लोलुप राजा और वह व्यभिचारिणी कुलटा सेठानी, दोनों के दोनों जैन-धर्मावलम्बी ही बने रहे ! यही नहीं, अपने हाथों से मुनि को आहार-दान भी उन्होंने दिया। और दिगंबर नंगे गुरु भी ऐसे भ्रष्टों के हाथ का आहार पानी ग्रहण करते रहे। भ्रमचारी जी ! देखी अपने घर के दिगंबरी शास्त्रों की अश्लीलता ? मुबारिक हो, यह अश्लीलता

आपको, आपने अपने परम पावन(?) शास्त्रों मे जिस प्रकार घृणास्पद, वीभत्स, और निर्लज्जता-पूर्ण वर्णन अपने भगवान् के द्वारा घोषित करवाया है। वैसे वीभत्स, घृणस्पद और निर्लज्जता-पूर्ण वर्णन को तो कोई पामर-से-पामर व्यभिचारी तक नहीं कर सकता।

कुछ कदम और बढ़ाइये। देखिये, आप की उसी दिगंबरीय हरिवंश पुराण मे, मुनिसुव्रतनाथ जी की कथा के अन्तर्गत कहा गया है, कि 'दिशा-रूपी स्त्री की नंगी कड़ी, बड़ी और मोटी-मोटी छातियों के समना इस मेघ को देख कर भगवान् को परम आनन्द हो रहा था।' वाहरे परमानन्द! क्या ही अपूर्व और असाधारण सूझ है!! उपमेय मेघ और उपमान छातियाँ और फिर उसे देख कर भगवान् मुनि सुव्रतनाथी जी को अचांचक वैराग्य की प्राप्ति!! वाह! कैसी उपमा, और कैसा जोड़ा! गप्पे भी हाँके, तो ऐसे कि टके के मोल मे मन, और मानियों के परिमाण के! कमाल कर दिया!!

भ्रमचारी जी! आपकी उसी दिगंबरीय हरिवंश पुराण मे राजा दक्ष की कथा भी आई है। उस मे लिखा है, कि—"सुव्रतनाथ भगवान् का पोता, राजा दक्ष हुआ है। जिस की कन्या का नाम था मनोहरी। वह कन्या अपने समय की परम रूप-सुन्दरी थी। जवान होने पर उस कन्या की दोनों छातियें मोटी-मोटी, जंघा बड़ी, और कमर पतली,...... ......अपनी बेटी को औरत बना ली (ग्रहण कर ली)।"

भ्रमचारी जी ! सुना न, कान खोल-खोल कर ? देखा, ये हैं तुम दिगंबरों के परम पावन और परलोक का मार्ग प्रशस्त करनेवाले शास्त्र ! जिन मे स्वत. की कन्या के रूप-यौवन का, उपर्युक्त शब्दों में वर्णन किया गया है । और जिस के ऊपर लट्टू हो कर, अपनी बेटी को भी, अपनी औरत बना ली ! फिर, वह था कौन ? मुनि सुव्रतनाथ भगवान् का पोता । और राजा दक्ष !!

फिर देखिये ! इसी आप की हरिवंश-पुराण में, भ्रम-चारी जी ! वासुदेव जी की कथा के अन्तर्गत लिखा है, कि— 'वसुदेव ने वहाँ रह कर, एक उपाध्याय से सारे वेदों को पढ़ा । फिर, सौम-श्री को वेद-विद्या में जीत कर, उस से उसने विवाह कर लिया । दोनों में तब खूब प्रेम हुआ । वसुदेव ने, एकान्त मे, रमणी, सौम श्री की मोटी-मोटी छातियों को मन-माना तोड़ा मरोड़ा, बाल पकड़ कर चूमा; जाँघों को छेड़ा, पीटा, होटों का काटे, परन्तु सौम-श्री उस समय काम से बड़ी ही व्याकुल थी । इस लिए काम-भोग के आनन्द मे, वसुदेव के द्वारा दी हुई पीड़ा, उसे कुछ भी मालूम नहीं हुई । काम-भोग की क्रिया मे महाप्रवीण वसुदेव ने उस नगर में, जिनेन्द्र की परम भक्त रमणी, सौम-श्री के साथ, बहुत दिनों तक, मन-माना भोग-विलास किया ।" आगे चल कर, इसी कथा में लिखा है, कि 'मदन वेगा, बहुत मोटी-मोटी छातियों से शोभित थी । इसलिए उस को देखते ही, वसुदेव के काम का

वेग न रुक सका। इसलिए वह बहुत काल तक, उस के साथ मन-मानी काम-क्रीड़ा करता रहा।"

इस कथा मे बीसियों स्थल ऐसे हैं, जहाँ पर 'मोटी-मोटी छातियाँ, एक दूसरे से चिपट गये', और भोग करते-करते थक गये' आदि-आदि पदों का प्रयोग किया गया है। सैकड़ों स्त्रियों के साथ ऐसा वर्णन आया है। और जहाँ देखो वहाँ भोग-विलास का वर्णन भरा पड़ा है। जो एक-दम अश्लील, सभ्यता की छाती में छेद कर देने वाला, कामोद्दीपक, और कोक-शास्त्र को भी अपनी गन्दगी से मात कर देने वाला है। भ्रमचारी जी! यह तो तुम्हारी केवल एक ही पुराण की घटनाओं को तुम्हारी फूटी नजरो के सामने पेश किया गया है। और वह भी इसलिये कि इनसे तुम्हारी पक्षान्धता, किसी-न-किसी अंश मे अवश्यमेव दूर हो जाय। जिससे कम-से-कम तुम्हारे हीये की यह भ्रमित भावना तो, कि 'श्वेतांबर शास्त्रों मे भी भद्दी और लज्जाजनक बातें लिखी हैं।' निर्मूल-सी हो जाय।

भ्रमचारी जी! हम एक नहीं, वरन बीसियों बार इस बात को जगत् के सामने रख चुके, कि श्वेतांबर समाज के मूल शास्त्रों में तो कहीं भी कोई भद्दी और लज्जाजनक बातें नहीं लिखी हैं। किन्तु हाँ, तुम्हारे दिगंबर समाज के माननीय धर्म-रसिक, हरिवंश-पुराण में तो सैकड़ों स्थलों पर, काम-भोग, विषय-विलास और यूँ चिपटना तथा यूँ पकड़ना आदि का वर्णन, जिससे असभ्य-से-असभ्य समाज तक को देख-सुन

कर संकोच पैदा हो जाता है, भरा पड़ा है। इतने पर भी तुम्हारी कुंठित बुद्धि का तुर्रा यह, कि इस सारे वर्णन को तुम भगवान् के द्वारा भाषित बतलाते हो ! धन्य है तुम्हारे भगवान् द्वारा भाषित और उद्घोषित इस हरि-वंश-पुराण की दिव्य वाणी को ! और धन्य है, उस की आड़ में अपने जीवन को चलाने वाले, तुम-जैसों तथा तुम्हारे नगे गुरुओं को !!

भ्रमचारी जी ! तब तुम्हीं खुद अपनी छाती पर हाथ धर कर बतलाओ, कि तुम्हारी इस हरिवंश-पुराण की अश्लीलता एवं कामोत्तेजक बातों के वर्णन से, चुल्लू भर पानी मे डूब मर जाने की शर्म तुम्हे और तुम्हारे नंगे गुरुओं को आनी चाहिए, या हमे ? अरे स्थानकवासी साधुओं के लिए तो, शर्म-जैसी कोई बात ही हमारे अपने साहित्य मे कहीं नहीं। फिर भोजन भी वे निर्दोष लाते हैं। पाँच समितियाँ पालते हैं। भ्रमचारी जी ! यदि स्थानकवासी श्वेतांबरों के बत्तीसों सूत्रों को छान-बीन कर देख जाने का कष्ट तुम एक बार उठा जाते, तो तुम्हें भली भाँति ज्ञात हो गया होता, कि उन में स्थानकवासी साधुओं के लिने नर-मूत्र पीने का कहीं कोई जिक्र तक नहीं है। अरे क्यों ईर्ष्या के वश झूठी-झूठी और अनर्गल बातों को लिख-लिख कर के, भोली-भाली जनता के निर्दोष एवं शान्त दिलों को बारूद के आकाश-मण्डल को गुंजा देने वाले, गोले बना देना चाहते हो ! भ्रमचारी जी ! श्वेताम्बर समाज को ऐसी पडी ही कौन सी है, कि वह अपने बत्तीसों सूत्रों पर

लीपा-पोती करने लगा। परन्तु हाँ, यदि भ्रमचारी जी ! लीपा-पोती ही की तुम्हें कोई इच्छा हो, तो क्यों नहीं अपनी हरिवंश-पुराण तथा अन्य पुराणों ही की लीपा-पोती तुम करते हो। क्योंकि अश्लीलता का तांडव-नृत्य तो स्थल-स्थल पर तुम्हारी ही दिगंबरीय पुराणों में किया गया है। जिसके कुछेक नमूने, पाठक ऊपर देख चुके हैं।

पाठको ! भ्रमचारी जी जी की, जरा, 'चोरी और सर-जोरी' की बातें तो देखिये ! इन्होंने आचारंग जी सूत्र के पृष्ठ २३६ पर का मूल पाठ देकर, उसका भावार्थ देने में किस प्रकार की सरे बाजार चोरी की है। उसमें कितनी चालाकी की चालें ये चले हैं। पूज्य अमोलक ऋषि जी की ओर से अनुवादित आचारंग जी सूत्र में, उस मूल पाठ का अर्थ, 'विचार-मात्र नहीं करना', यूँ लिखा है। किन्तु—भ्रमचारी जी ने; उसमें से 'नहीं' शब्द को जड़-मूल से गायब कर दिया। और केवल 'विचार-मात्र करना', यहीं लिख दिया। यूँ दिन-दहाड़े 'नहीं' शब्द का उड़ा कर, भ्रमचारी जी ने, गजब, की डाकाजनी की है !

विचारशील पाठको ! भ्रमचारी जी ने आचारँगजी सूत्र के जिस मूल पाठ को पृष्ठ २३६ पर का बतलाया है, वास्तव में, है वह पृष्ठ २६३ पर का। और उसका भावार्थ यह है, कि 'कन्या अथवा पुत्र के विवाह के उपलक्ष में, या प्रीति-भोज आदि में जो भी भोजन बनाया हो, उसके साथ यदि माँस-मदिरा

का भी प्रबन्ध किया गया हो, तो ऐसी जगह जाकर, भोजन लाने का विचार-मात्र भी साधु को नहीं करना चाहिए।' वह ठीक इसी भाव को बतलाते हुए; आचारँग जी सूत्र मे छपा हुआ है। किन्तु भ्रमचारी जी ने अपने प्रसिद्ध नाम के नाते, वहाँ से 'नहीं' शब्द को बाल-बाल उड़ा कर लोगों को भ्रम और धोखे मे डालने की चतुर चोरी की है। पाठकों को चाहिए, कि वे छपे हुए आचारग जी सूत्र के पृष्ठ २६३ पर के मूल पाठ के भावार्थ को मनन-पूर्वक पढ़ कर हमारी सचाई को कसौटी पर लगाते हुए परख लें; कि उसमे से भ्रमचारी जी ने 'नहीं' शब्द को बिलकुल ला पता करके, किस प्रकार से अपनी बुद्धि का परिचय दिया है।

भ्रमचारी जी! पूज्य अमोलक ऋषि जी महाराज ने तो, आचारंग जी सूत्र के अर्थ मे कहीं भी कोई, जरा भी गोल-माल नहीं किया है। अजी! सच्छास्त्रों मे गोल-माल का काम ही क्या? गोल-माल हो सकती है, तो भ्रमचारी जी आपकी अपनी पुराणों मे! जिसका जीता-जागता प्रमाण यह है, कि उनमे भयंकर-से-भयंकर अश्लीलता और एक-दूसरे के विरोधी वाक्य तथा कथन, यत्र-तत्र विपुलता से भरे पड़े हैं। आचारँग के मूल पाठ में यह तो कभी भूल कर भी नहीं कहा गया है, कि यह जिक्र केवल स्थानकवासियों ही के यहाँ का है। किन्तु यह तो समुच्चय रूप मे कहा गया है। फिर भी भ्रमचारी जी प्रमाद वश इस प्रकार लिखने की चेष्टा कर रहे हैं, कि 'स्थानक-

वासी गृहस्थियों के यहाँ, विवाह-शादियों मे माँस, मद्य, मधु आदि के खान-पान का उपयोग होता था।' पाठको! यह निरे पागलों का प्रलाप मात्र है। स्थानकवासियों के यहाँ माँस, मदिरा का उपयोग कभी भूल कर भी, भोजन में नहीं होता। हाँ, स्थानकवासी साधु, दिगवरों के मूलाचार के नौवें समुद्दश्य की ३६ वीं और ३७ वीं गाथा के अनुसार जैनों तथा जैनेतरों के यहाँ भिक्षा लेने के लिये अवश्य जाते हैं। परन्तु जैनेतरों के यहाँ, विवाह आदि प्रसंगों के कारण, कहीं माँस, मदिरा का उपयोग, यदि उनके भोजन मे होता हो, तो वहाँ से भोजन लाना तो करोड़ों कोस दूर रहा, अभी तो वहाँ जाने-भर तक का कभी कोई विचार अपने दिल मे वे नहीं लाते। साथ ही जहाँ कहीं माँस, मदिरा का उपयोग भोजन मे नहीं किया जाता, वहाँ भिक्षार्थ, स्थानकवासी साधु यदि कभी जाते हैं, तो मार्ग में वनस्पति; बीज, धान्य तथा कीड़े-मकोड़ों की सर्वथैव रक्षा करते हुए ही, वे जाते हैं।

स्थानकवासी साधु, छोटे तथा बड़े सभी प्रकार के त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करना, तथा करवाना अपने जीवन और अपने साधुत्व का एक-मात्र धर्म मानते हैं। किसी भी जीव की रक्षा करने-करवाने में वे जरा भी उपेक्षा कभी भी नहीं करते। भ्रमचारी जी ने, जो यह दोहा दिया है, कि—

'अहरन की चोरी करे, करे सूई को दान।
ऊँचे चढ़ कर देखिये; कितनी दूर विमान॥'

हाँ, यह स्थानकवासी साधुओं पर कभी लागू नहीं होता। वरन् उन्हीं के दिगंबर नंगे गुरुओं पर तो उसका अक्षर-अक्षर घट जाता है। क्योंकि वे लोग यूँ तो छः ही कायिक जीवों का आरम्भ अपने लिए, एक नहीं वरन् पचासों घरों मे प्रति दिन करवाते रहते हैं। परन्तु यूँ कहीं भूले-भटके किसी के घर पर कोई एकाध चींटी नजर, कभी आ जावे तो वे उसी समय उसके घर के आहार पानी को छोड़-छाड़ कर चलते बनते हैं। यह इन की उदार (?) दया का एक आदर्श (?) नमूना है। पाठको! फिर देखिये एक चींटी की रक्षा के लिए तो, ये लोग मयूर-पींछी अपने पास रखते हैं। मगर इस मयूर-पींछी की प्राप्ति के लिए अनेकों मयूरों की अकारण ही हत्या का पाप अपने सिर पर लेते हुए ये कभी नहीं हिचकते! जरा भी कोई पहेज् ये नहीं करते !!

आगे चलकर, भ्रमचारी जी ने नन्दी सूत्र के पृष्ठ १२७ पर 'धन सेठ की कथा' का उद्धरण पेश करते हुए 'मान-न मान मैं तेरा महमान' के नाते ज़बर्दस्ती उसे जैन ठहराने की धृष्टता की है। पाठको! यह भ्रमचारी जी की आदर्श अक्ल का नमूना है। अकेला नन्दी-सूत्र ही क्यों? कोई भी सूत्र क्यों न उठा लिया जाय, उनमे से किसी एक मे भी, माँस तथा मद्य का सेवन करने, तथा करवाने वाले को 'जैन' कहीं भूल कर भी नहीं कहा गया है। इसी प्रकार इस धन सेठ को भी उस मे जैन नहीं माना गया है। बुरे आचरण वाले दुराचारी व्यक्तियों की

कथाओं का वर्णन करके तथा उनके भयंकर एवं महान् दुखद परिणामों को तथ्य के रूप में सुना कर लोगों को दुराचरण के मार्ग से दूर रखने का सतत प्रयत्न करते रहना किस धर्म मे, किस समाज मे, किस देश में, किस अवस्था मे, एवं किस काल में, अपराध माना गया है ? क्या भ्रमित बुद्धि वाले भ्रमचारी जी इस बात का निराकरण करने की कुछ चेष्टा करेंगे ? अरे भ्रमचारी जी ! देखो, हिंसा मत करो, अन्यथा फलाँ-फलाँ हिंसक व्यक्ति की भाँति नाना प्रकार के घोरतम कष्ट उठाओगे। इसी प्रकार के सदाचरण की ओर जीवन को मोड़ देने वाले उदाहरण दे-दे कर समझाने में क्या यह सिद्ध हो जाता है, कि जिस व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है, वह व्यक्ति जैन है ? यदि नहीं तो भ्रमचारी ने धन-सेठ की कथा को उद्धृत करके, उसे जैन सिद्ध किस प्रकार से कर दिखाया है ? यह समझ ही में नहीं आता। स्थानकवासियों के माननीय सूत्रों मे, ऐसा एक भी कोई उल्लेख नहीं, कि जिस में, किसी व्यक्ति ने जैन हो-कर, माँस-भक्षण, मदिरापान, अथवा परस्त्री-गमन कभी किया हो, का वर्णन किया गया हो। इस के विपरीत दिगम्बरीय शास्त्रों मे तो, जैन होकर माँस खाया; मदिरा पी, मधु का सेवन किया; और पर-स्त्री-गामी हुआ, आदि-आदि के, एक-दो और दस नही, वरन् अनेकों प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है। भ्रमचारी जी ! यदि तुम्हारे हीये की आँखें, जरा भी काम देने लायक हों, तो एक सरसरी निगाह से, तुम अपने घर ही की पुराणों के पत्रों को,

कुछेक उलट-पुलट कर देख जाओ, तो सहज ही में, तुम्हारी बुद्धि को उस के दिशा-भूल का वास्तविक पता लग जावे।

क्या, पाठको ! दिगम्बर धर्म ग्रन्थों मे, उनके नंगे मुनियों के "विषय-सेवन" और "मद्य, माँस, तथा मधु-भक्षण" कर लेने पर, और मामूली-सा दण्ड-विधान उन के लिए बतला कर, अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा तथा अब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न नहीं किया गया है ? क्या, इसी प्रकार से,वे अहिंसा-प्रधान जैन-धर्म के अनुयायी अपने आपको कहने का दम भरते हैं ? हा हन्त ! अफ़सोस !! महान अफ़सोस !!!

आगे बढ़कर, भ्रमचारी जी ने, स्थानाग सूत्र के पृष्ठ २२० के उदाहरण को उद्धृत किया है। और उसके द्वारा, स्थानकवासी साधुओं पर झूठा भोजन करने के कलंक का आरोप किया है। किन्तु उनका यह आक्षेप है निरा निर्मूल। क्यों कि, स्थानकवासी साधु, झूठा भोजन, किसी भी घर से, कभी भी नहीं लाते। और जब लाते ही उसे कभी नहीं, तो फिर, खाते उसे कैसे हैं ? "प्रत्यक्षं किं प्रमाणं ? " के नाते, यदि यह बात सचमुच मे सत्य है, तब तो इस के लिए किसी प्रमाण की कोई जरूरत ही क्या ? परन्तु भ्रमचारी जी ने जो भी उदाहरण दिया है, वह तो एक अभिग्रह-धारी मुनि ही के लिए है, और हो सकता है। जिसने यह अभिग्रह लिया हो कि, "मनुष्य, भोजन करने को बैठा ही हो। उस ने थाली में से केवल एक ही-एक निवाला अभी लिया हो। तथा दूसरे निवाले को लेने के लिए, थाली मे, अभी-अभी

उसने हाथ भी न डाला हो। ऐसा भोजन यदि मिल सका, तो मैं ग्रहण कर लूँगा।" इस प्रकार के अभिग्रह-धारी मुनिराज के प्रति, भ्रमचारी को; झूठा भोजन लेने की आशंका हुई भी तो कैसे और क्यों? जब दूसरा निवाला लेने के लिए खाने वाले नें थाली मे अपना हाथ ही नहीं डाला, तब वह भोजन झूठा हो कैसे गया? और, उस थाली मे रक्खे हुए भोजन को अपने दूसरे शुद्ध हाथ से उस खानेवाले ने प्रेमपूर्वक मुनि को बहरा दिया, तब झूठे का प्रश्न अब रहा ही कौन-सा? परन्तु भ्रमचारीजी की बुद्धि बावरी हो गई है। तब वास्तविकता का पता उन्हें चले भी तो कैसे? यही कारण है, कि उन्हें सीधा भी औंधा दिखता है।

पाठको! भ्रमचारीजी ने अपनी पुस्तक मे, एक बार नहीं वरन् बीसियों बार स्थानकवासी साधुओं के लिए आहार लाने की बातें लिखी हैं। और उनका माकूल उत्तर भी इसी पुस्तक मे हम यथा-स्थान लिख आये हैं, कि स्थानकवासी साधु, जुलाहे, कोली, धीमर, आदि के यहाँ से कभी भूल कर भी भोजन नहीं लाते। यहाँ भ्रमचारीजी ने राजपूतों तक को नीच जाति के बता कर, स्वयं अपने-आप को भी उन्होंने नीच जाति का सिद्ध कर देने की चेष्टा की है। क्योंकि यदि भ्रमचारीजी, अग्रवाल बनिये हैं, तो उन की उत्पत्ति, अग्रसेन नामक एक राजा से, जो कि राजपूत थे, हुई है। इस पर से तो वे खुद नीच क़ौम के ठहर जाते हैं। ऐसी नीच कौम के यहाँ से, दिगंबर नंगे गुरु लोग समय-असमय आहार खाते हैं। यही नहीं, इन्हीं दिगंबर नंगे गुरुओं को,

इनके धर्म शास्त्रों ने बीस तोले के अन्दर-अन्दर तक मद्य ,माँस, और मधु खा लेने के लिए तो पहले ही से, खुले-आम इजाज़त दे रक्खी है । (देखो दिगंबर-धर्म-रसिक-ग्रन्थ पृष्ठ ७७२) ।

स्थानकवासी साधु तो, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य आदि उच्च कुलों मे से भी आहार लाना यदि उचित समझते हैं, तभी लाते हैं । अन्यथा वहाँ से भी नहीं लाते । अरे भ्रमचारीजो ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को तो तुम्हारे ही साथी, न्यामतसिंहजी-जैसे व्यक्ति तक अपनी 'सत्य परीक्षा' नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ पर उच्च वर्ण के मान और गिन रहे हैं। परन्तु तुम तो क्षत्रिय वर्ण तक को 'नीच' बता रहे हो ।अत अपने स्वधर्मी भाई के द्वारा दिये हुए प्रमाणों से भी, तुम पूरे-पूरे असत्य ठहर जाते हो ।

हाँ, इस कथन के विपरीत दिगंबर नंगे साधुओं के लिए तो, नीच कौमों के यहाँ से भी अवश्य ही भोजन करने का विधान है । देखो, निर्णय सागर बंबई द्वार मुद्रित दिगंबर मूलाचार के पृष्ठ २१५ पर अणगार भावना के नौवे समुद्देश की गाथा २६-२७ वीं मे स्पष्ट-रूप से कहा गया है, कि—

'अणादमणुणादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिदि हिडतीय, मोणेण मुणि समादिंती ॥
सीदलगमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सणिद्ध ।
सुद्ध वा लोणिदम लोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासदा ॥

पाठको ! उपर्युक्त दोनों गाथाओं मे स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है, कि 'दिगंबर साधु भिक्षा के लिए, 'णिच्चुच्च मज्झिम

कुलेसु' अर्थात् नीच, ऊँच, और मध्यम कुल के सभी पंक्ति-बद्ध घरों मे किसी एक को भी घर नहीं छोडते हुए, मौन-धारण करके आहार के लिए जावे। और वहाँ उन घरों मे, जैसा भी ठंडा, बासी, गर्म, सूखा-लूका, चिकना, नमकीन, या अलूणा आदि निर्दोष भोजन मिल जाय, उसे बिना किसी भी प्रकार के स्वाद के वह खाले। कहिये भ्रमचारी जी ! जब तुम्हारे दिगंबर नंगों के लिए, नीच ऊँच और मध्यम इन तीनों ही प्रकार के कुलों में भोजन करने का स्पष्ट विधान है, अब तब कौन ठहरा नींच कौम के यहाँ का भोजन ग्रहण करने वाला ?

जब उपर्युक्त इतने-इतने उदाहरणों से, यह सर्वथैव सिद्ध हो चुका है, कि दिगंबर नंगे गुरु ही नीचों के घर का भोजन ग्रहण करते हैं, तब फिर, स्थानकवासी साधुओं पर झूठे आक्षेप का आरोपण क्यों ?

अब भ्रमचारी जी, दशवैकालिक सूत्र के पृष्ठ ५६ वाले धोवन के पानी के सम्बन्ध के उद्धरण को पेश करते हुए लिखते हैं, कि 'यह तो पानी पीकर जाति पूछना हुआ।' भ्रमचारी जी को यह लिखते समय इतना भी भान न रहा, कि जो उद्धरण मैं दे रहा हूँ, उस में पानी पीकर जाति पूछने का संबन्ध ही कौन-सा है ? उससे तो, इस बात की ज़रा भी झलक कभी नहीं फूटती। उसका सीधा-सा भाव तो यही है, कि 'यह जो धोवन का पानी दातार दे रहा है, वह मेरी प्यास को बुझा सकता है, या नहीं ? उस पानी को पी लेने के बाद वमन तो नहीं हो जावेगी ? इत्यादि

आशंकाओं से अपने हाथ मे, दातार से कुछ पानी लेकर, चख ले। और यदि रुचि के प्रतिकूल हुआ, तो उसे न ले, तथा वह अपनी रुचि के अनुकूल हुआ, तो दातार से, उस धोवन के पानी को, अपने पात्र में साधु ले-ले।" भ्रमचारी जी! इस प्रसंग मे पानी पीकर वात पूछने की वात कौनसी आई? परन्तु भ्रमचारी जी ऐसा न लिखें तो उनके पेट मे पड़ी हुई विना मिहनत के द्वारा प्राप्त रोटियाँ उन्हें पच भी तो कैसे सकें!

फिर भ्रमचारीजी ने धोवन के सम्बन्ध मे लिखा है, कि 'उन वर्तनों को कुत्ता अपने टट्टी से भरे हुए मुँह से चाट जाता है और उन पर पेशाव भी कर जाता है। भोजन करनेवाले भोजन कर चुकने पर चुल्लू ले कर, उनमें उलटे कुल्ला भी कर देते हैं'। पाठको! भ्रमचारीजी का स्थानकवासी साधुओं पर इस प्रकार का लाँछन लगाना, निरा निर्मूल और पागलों का प्रलाप मात्र है। क्योंकि ऐसे गँदले तथा झूठे बर्तनों के धोवन का पानी स्थानकवासी साधु न तो आज तक कभी लाये ही और न कभी लाते ही हैं। वे तो केवल उन्हीं वर्तनों का धोवन लेते हैं, जिन मे चावल धोये गये हों, या आँटा माँडा गया हो; अथवा पानी के मटके आदि को धोया हो। इसके अतिरिक्त, गर्म जल को भी वे ग्रहण करते हैं। स्थानकवासी गृहस्थियों के घरों मे ऐसा तो कभी भूल कर भी नहीं होता, कि उनके चाँवल धोने, अथवा आटा माँड़ने के बर्तनों को, या पानी के घड़ों को कुत्ते चाट जाँय, उनमे पेशाव कर जाँय; अथवा उनमें; कोई व्यक्ति कुल्ले कर दिया करे।

भ्रमचारी जी के कथानुसार यदि हाँ, दिगंबरों के घरों में ऐसा होता हो, कि उनके रोटी बनाने के बर्तनों को तथा पानी के मटके आदि को कुत्ता यदा-कदा अपने टट्टी से भरे हुए मुख से चाट जाया करता हो, तो यों फिर उनके चौके में बना हुआ दाल भात और पानी आदि सभी भ्रष्ट हुए। और उसी भ्रष्ट आहार पानी को वे प्रति-दिन अपने नंगे गुरुओं को भी खिलाते रहते हैं, जिसे कि इस युग में एक चांडाल तक ग्रहण करना अनुचित और अनाचार से ओत-प्रोत समझता है।

क्यों भ्रमचारी जी ! धोवन को पीने का विधान तो दिगंबर नंगे गुरुओं के लिए दिगंबरीय शास्त्रों में भी तो किया हुआ है न ? यदि आप को पता न हो, तो लीजिये प्रमाण हम ही पेश किये देते हैं ! देखिये तुम्हारे भगवती अराधना के पृष्ठ २७२ पर लिखा है, कि—

'सच्छं वहलं लेवड़मलेवड़' च ससित्थय मसित्थं
छव्विहपाणयमेयं, पाणय परिकम्मपालग्गं ॥४॥

अर्थात् 'स्वच्छ उष्ण जल, अमली का जल (धोवन) बहल (घड़) ससित्थ—चाँवल के दाने सहित माँड़, असित्थ—चाँवल के दाने रहित माँड, यह पूरे छः प्रकार का धोवन जिस में कितनेक के हाथों को लेप लगे, और कितनेक का लेप न लगे, ऐसा धोवन दिगंबर मुनि को लेने योग्य होता है।

एक दूसरा प्रमाण और भी लीजिये। आप के दिगंबर धर्म रसिकग्रन्थ के पृष्ठ १६६ पर क्या ही पते भार बात कह दिखाई

है। वह यूँ है—

'तिल तण्डुल तोयं च प्रासुकं भ्रामरी गृहे।

अर्थात् जिस घर में भिक्षा के लिए मुनि जाते उसे 'भ्रामरी' घर कहते। ऐसे भ्रामरी घर में जहाँ तिल और चाँवल धोये हों उसका पानी (धोवन) प्रासुक है।

भ्रमचारी जी ! तीसरा प्रमाण उसी आपके दिगंबरी धर्म-रसिक ग्रन्थ के २६६ वें वाले पृष्ठ पर एक बार और लिखा है।

एलालवंगतिल तंडुल चंदनाद्यैः कर्पूर कुंकुम तमालसुपल्लवैश्च।
सुप्रांसुकं भवति खादिरभस्मचूर्णै.पानीयमग्गिन पचितं त्रिफला कषायै

अर्थात् इलायची, लौंग, चन्दन, कपूर, केशर, ताड़ वृक्ष के कोमल पत्ते, खैर वृक्ष की लकडी की राख तथा त्रिफले के चूर्ण से तिल तथा चाँवलों के धोने से और अग्नि मे गर्म करने से पानी प्राशुक (धोवन) हो जाता है।

भ्रमचारी जी ! चौथा प्रमाण उसी दिगंबर धर्म-रसिक ग्रन्थ के पृष्ठ ३६३ के ११६ वें श्लोक मे मुनि को धोवन कैसा लेना चहिए, उसके सवन्ध का है। उसके लिए लिखा है, कि जब तक उस धोवन (प्राशुक पानी) का रस, वर्ण, गन्ध और स्वाद न बदल जाय तब तक ले लेने मे अपरिणित दोप लगता है। देखिये—

त्रिफलादिरजोभिश्च रसैश्चैव रसायनै।
गृह्णात्य परिणतं वै दोपोऽपरिणत:समृत:॥

अर्थात् तिल-प्रक्षालित जल, चाँवलों को धोया हुआ जल,

तपा कर ठंढा किया हुआ गर्म पानी चनों को धोया हुआ जल, और तुष-प्रक्षालित जल, जिसके खास रंग, गन्ध और स्वाद नहीं बदल पाये हों, तथा हरीतिकी चूर्ण आदि के डालने से भी जिस के वर्ण गन्ध और रस नहीं बदले हैं, वह सब अपरिणत है। अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस, बदल जाने पर ही उस धोवन को मुनि ग्रहण करते हैं।

भ्रमचारी जी ! अपने ही घर के ऐसे-ऐसे पुष्ट प्रमाणों को पढ-पढ़ कर भी क्या फिर भी आप शंकाशील बने ही रहे ? बोथरी बुद्धि के भ्रमचारी जी ! तुम्हारे दिगम्बर नंगे मुनियों के लिए उनके आचार्यों ने धोवन पीने के सम्बन्ध मे, उनके अपने शास्त्रों में कितने-कितने प्रबल प्रमाण और विधान बताये हैं। तब धोवन के पानी को पीने के सम्बन्ध मे स्थानकवासी साधुओं पर अब तुम दोष किस मुँह से लगा सकते हो ! इस से यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया, कि इस सम्बन्ध मे तुम ने अभी तक जितने भी दोष ठहराये हैं, वे स्थानकवासी साधुओं पर तो स्वप्न मे भी लागू नहीं होते; किन्तु हाँ तुम्हारे दिगंबर नंगे गुरुओं पर तो वे सब-के-सब अवश्य ही और अव[illegible] सकते हैं। जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं। [illegible] पानी (धोवन) जिस को कि किसी कुत्ते ने अपने मुँह से चाट लिया हो, [illegible] में पेशाब क[illegible] किसी व्यक्ति ने उसमें [illegible] दिगंबर नंगे गुरु लोग [illegible]

अघोरी पन पर !!! इस पर भ्रमचारी जी ! यदि तुम ऐसा कहो, कि हमारे दिगंबर मुनि वोवन को कभी ग्रहण नहीं करते । तो फिर ऐसा करके तो वे अपने माननीय शास्त्रों की, आज्ञा और मर्यादा का तो अवश्य मेव उल्लघन कर रहे हैं ।

भ्रमचारीजी महाराज ! गप्प के गहन वन मे प्रवेश करते-करते आप ने इस बार तो गप्प महासागर तक को मथ डाला । और उस महान् मन्थन के फल-स्वरूप आप के हाथ यह रत्न लगा। कि—'स्थानकवासी साधुओं मे कोई एकाध ही जैन-धर्मी वैश्य साधु होगा ।' भ्रमचारी जी ! इस सम्बन्ध मे जरा ही अपनी आँखें खोल कर तुम ने देखा होता, तो तुम्हें एक दो और दस नहीं वरन् सैंकड़ों स्थानकवासी साधु आज जैन धर्मावलंबी वैश्य जाति के प्रत्यक्ष मे दिख पड़े होते ! और जो मारवाड़, गुजरात, मालवा, पंजाब, यू० पी, तथा बंगाल आदि के सुदूर प्रान्तों में मार्ग के अनेकों कष्टों को सहते हुए, विचरण करते रहते हैं; तथा जो स्वदेशाभिमान, स्वधर्म, स्वशिक्षा स्वसंस्कृति, स्वसंरक्षण आदि से विरत जनता को रात-दिन उपदेश देकर, उनके मुरझाये हुए दिलों मे स्वदेशाभिमान, स्वधर्म-गौरव, स्वशिक्षा व संस्कृति एवं संरक्षणता की भावनाओं को सतत जागरूक कर रहे हैं। भ्रमचारी जी ! कभी एकाध बार भी तुमने उनमें से एकाध का साक्षात्कार किया होता, तो तुम्हारी जड़ बुद्धि की जड़ता, जड़ मूल से मिट गई होती ।

भ्रमचारी जी ! अपनी थोथरी बुद्धि से बड़े ही लाचार हो रहे हैं। इसलिए वे कूप-मंडूक बन कर, टीकरी के छोटे से गाँव मे टर्र-टर्र किया करते हैं। तुम ने परायों से सद्गुण ग्रहण करना तो कभी भूल कर भी नहीं सीखा केवल 'छिद्रे ष्वऽनर्था बहुलीभवन्ति', के नाते, बगुला, जिस प्रकार रात-दिन, बडा ही त्यागवीर बना रह कर, आई मछली और गड़प, आई मछली और गड़प, करने की धुन ही मे रत रहता है, ठीक उसी प्रकार आप भी परायों में सदा-सर्वदा दोष-ही-दोष देखते रहते हो। पाठको ! भ्रमचारी जी ने ईर्ष्या के वश होकर उन्होंने अपनी सारी पुस्तक मे स्था० साधुओं की भर-पेट निन्दा की है। मगर वे तो बिलकुल बेदाग़ हैं। यदि कोई दाग़ है तो तुम्हारे नगे गुरुओं मे। क्योंकि अभी-अभी उन्हीं में से एक ने अपनी मयूर-पींछी मे पूरे-पूरे बीस हज़ार के नोट छिपाये थे। इन तुम्हारी सब पोप लीलाओं को प्रदर्शित करने वाली एक स्वतन्त्र पुस्तक बहुत ही शीघ्र प्रकाशित होगी। परन्तु महान् खेद तो इस बात का है, कि इन नंगों के ऐसे नष्ट और भ्रष्ट आचरणों को आँखों देखते हुए भी भ्रमचारी जी तुम्हारे कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। हा हन्त ! हमारे श्वेतांबर भाई भी ऐसे दिगंबर नगे गुरुओं का अभिवादन करते-कराते हैं। और उनके चरणों में मस्तक नवाँ कर अपने जीवन को कृत-कृत्य समझते हैं। हा दैव ! हमारे ये श्वेताम्बर बन्धु कब तक अपनी इस हिमालय पर्वत जैसी भूल से बाज़ आवेंगे।

दिगम्बर समाज में भ्रमचारी जी एक ऐसे व्यक्ति

हैं। जो अपने पापी पेट के लिए पक्ष-पात के दल दल में फँस कर समाज मे सिर-फुटौवल कराने के लिए, निरन्तर छट पटाते रहते हैं। जो अपनी कलह-प्रियता से समाज में प्रति पल, बाकी और भाग की विषमतम क्रिया का व्यापार कर रहे हैं। परन्तु इन टुई की बू वाले दिमाग़ के व्यक्तियों की अभी भी आँखें नहीं खुलतीं इनकी इन बाकी और भाग की विषम प्रणालियों से ही जैन-जगत की शक्तियाँ विचार, और जनता सब-के-सब बारह बाट हो चुके हैं। जिन की संख्या कल करोड़ों की थी, वही आज अगुलियों पर गिनने के लायक केवल लाँखों पर जा पहुँची है।

दूसरी ओर उसी दिगंबर समाज मे कई ऐसे उत्तम विचारों के व्यक्ति भी आज मौजूद हैं। जो छिन्द्रान्वेषण होता क्या है, यह जानते तक नहीं। वे स्थानकवासी साधुओं, विद्वानों त्यागियों, एव उस समाज को अपने ही परम पिता वीर महा प्रभु के सिद्धान्तों को प्रचार करने वालों का अपने ही जैसा एक प्रधान परम श्रेष्ठ अंग समझते हैं। यही, नहीं जैसे-जैसे उन के निकट वे आते जाते हैं, उनके सद्गुणों सौजन्य और-धर्म-प्रचार की प्रबल भावनाओं को देख-देख कर उन का समुचित सम्मान भी वे कर रहे हैं। फूट डाकिनी से प्रतिपल परहेज करते हैं। और भ्रमचारी जी जैसे लोगों के लाख-लाख भड़काने से वे भड़कते तो कभी नहीं,वरन् उलटा वे उन्हें झिड़कते हैं।

आगे चल कर भ्रमचारी जी ने आचारग जी सूत्र के

पृष्ठ ३०६ पर के एक उद्धरण को दिया है। भ्रमचारी जी ने अपने मूल पाठ व अर्थ दोनों मे, 'लसुणं' के स्थान में, 'लहसण' का प्रयोग कर दिया है। जब एक अनुस्वार मात्र के हटा देने अथवा प्रक्षेप कर देने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है, तब पूरे शब्द के आकार-प्रकार को बदल देने से तो कितना विकार पैदा हो जावेगा, पाठक सोच सकते हैं। उदाहरणार्थ, चिता (रती— जिस पर सुला कर, मुर्दे को जलाया जाता है) और चिंता (रंज, जो जीते-जी रात-दिन मनुष्य को खाते रहता है।) और साइस (घोड़े का खुर्रा करने वाला) तथा साइंस (विज्ञान)। पाठक वृन्द! 'लसुणं' का अर्थ होता है 'लसुण का वृक्ष', और 'लहसणं' जिमीकन्द 'लहसन' का अर्थ वाचक है।

आचारॅग जी सूत्र के पृष्ठ ३०६ पर का मूल पाठ यूँ है—

'सेभिक्खू वा (२) जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा लसुणं वा लसुण पत्तं वा लसुण नालं वा लसुणं कन्दं वा लसुण चोयं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थ परिणतं जावनो पडिगाहेज्जा।'

अर्थात् लसुण वृक्ष लसुन की कन्द, डण्डी, पत्ते, छाल और उसके फल होते हैं।

पाठको! 'लसुण' एक वृक्ष विशेष होता है। जिसके पत्ते कन्द, छाल और फल भी होते हैं। इन वृक्षों का वन होता है। उन्हीं फलों के संबन्ध मे यहाँ 'लसुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी मूल पाठ के पहले नारियल, खजूर, बैर और पीछे अगस्थिया,

टींबरू, फणस आदि फलों का वर्णन किया गया है। यदि भ्रम-चारी जी ने जरा ही इस 'लसुण' शब्द के आगे-पीछे के अर्थों पर अपने ठडे मस्तिष्क से विचार कर लिया होता, तो उन्हें उसके बदले 'लहसणं' का व्यर्थ ही प्रयोग कर के अपने अनन्त संसार को बढ़ाने का कोई अवसर ही न मिला होता। परन्तु अपने ले-भग्गू स्वभाव तथा बुद्धि से उन्हें ऐसा करना रुचता ही क्यों ?

भ्रमचारी जी ! आचारॅग मे वर्णित 'लसुणं' का अर्थ तो वृक्ष और उसका कन्द, यूँ किया है, परन्तु इस जिमीकन्द लह-सन का अर्थ लहसन और उसका कन्द, यूँ भूल कर भी नहीं होता। फिर उपर्युक्त सूत्र मे वर्णित 'लसुण' के तो फल होना भी बतलाया गया है। परन्तु आपकी इस जिमीकन्द वाली 'लहसणं' के तो फल नहीं होते। इन सम्पूर्ण पुष्ट प्रमाणों से यह निर्वि-वाद सिद्ध हो जाता है, कि आचारॅग मे वर्णित 'लसुण' का अर्थ 'जिमीकन्द लहसन' से नहीं होता। बल्कि 'लसुण' नामक वन-स्पति का तो एक अलग ही वृक्ष होता है। जिसके फल लगते हैं। और जो जिमीकन्द 'लहसन' से बिलकुल पृथक् ही होता है।

भ्रमचारी जी ! स्था० साधु तो जिह्वा लोलुप कदापि नहीं होते। वे तो अपने लिए बना हुआ भोजन तक लाना महान् पातक समझते हैं। समय पर जैसा भी रूखा-सूखा भोजन वे पा जाते हैं, उसी के आधार पर अपने संयम का सोलह आना पालन वे करते रहते हैं। इस के विपरीत हाँ, लोलुपता तो दिगंबर

नंगों मे होती है। जिनके लिए एक दो और दस नहीं, वरन् पचासों घरों मे स्पेशल तौर से; अभिग्रह के मिस, अनेकों प्रकार के भोजन की तैयारियाँ होती हैं। और नाना भाँति के फल तथा मेवे भी भोजन मे लाये जाते हैं। प्रमाण के लिए दीपचंद जी वर्णी कृत 'त्याग मीमांसा' को देखिए। जिसमें,—'श्री (दिगबर) मुनिराजना माटे अमे अमुक स्थले जइने आ फलो तथा मेवा लाव्या।'—लिखा है।

भ्रमचारीजी ! जरा अपनी अन्तरात्मा से पूछ कर इस बात का निर्णय करो, कि अपने लिए बनाए गये भोजन तथा खरीद कर के लाये गये फलों को खाने वाले दिगंबर नंगों में जिह्वा-लोलुपता है या अनैमित्तिक रूखा-सूखा भोजन खाने वाले स्था० मुनियों मे ! अरे वुद्धि के ववंडर जी ! इस बात का न्याय-पूर्ण निर्णय तो एक अबोध वच्चा तक कर सकता है, कि अनैमित्तिक भोजन को ग्रहण करने वालों मे यह लोलुपता नहीं होती। भ्रमचारी जी ! स्था० साधु जि़मीकन्द वाला लहसन तो क्या; वरन् जितने भ जमीकन्द अपरिणित है, उन्हें लेना तो कोसों दूर रहा, छूना तक पाप समझते हैं।

जिस प्रकार दिगम्बर मुनियों के लिए उनके मूलाचार ग्रन्थ के अणगार भावना वाले अधिकार की ५७-५८ वीं गाथा मे कहा गया है, कि—

फल कन्द मूल वीज अणग्गिपक्कंतु आमियं किंची ॥
णच्चा अणेसणीयं णावियपडिच्छंति धीरा ॥ १ ॥

जंहवईअणिच्छीयं णियट्टीमंफासुयं कयं चेव ॥
णाउणएसणीयं तंभिखुमुणी पडिच्छति ॥ २ ॥

अर्थात् दिगंबर मुनियों के लिए अपरिणत फल, कन्द, मूल और बीज वगैरह नहीं लेने और परिणत लेने का विधान उपरोक्त गाथाओं मे किया गया है !

उपर्युक्त प्रमाण के होते हुए भी फिर जिमीकन्द के विषय में प्रश्न करना भ्रमचारी जी की निरक्षरता का द्योतक नहीं तो और क्या है ?

अब भ्रमचारी जी; 'प्रवचन-सारोद्धार' के पृष्ठ ५१७ पर के उद्धरण और गाथा नंबर ४२७ तथा ४३१ को दे कर स्था० समाज पर दबाव डाल रहे हैं। यह उनकी केवल विषैली बुद्धि ही का परिणाम तो है। उपर्युक्त ग्रन्थ स्था० साधुओं का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं। इतने पर भी उसका झूठा-सच्चा प्रमाण पेश करके पंडित कहलाना, संसार की आँखों मे दिन-दहाड़े धूल झोंकना नहीं, तो और क्या है ? भ्रमचारी जी ! स्था० साधु-समाज तो, इन अठाहरों प्रकार के माँस-मदिराओं को अभक्ष्य मानता है। साथ ही यह घोषणा भी वह करता है, कि इन के भक्षण करने-कराने वाला भयंकर नर्कवासी बनता है।

आगे जब कहीं से भी अपने अभीष्ट की सिद्धि होते भ्रमचारी जी को न दीख पड़ी• तब घसीट मारा आचारंग जी के पृष्ठ २०६ वाले एक उदाहरण को ! परन्तु पाठको ! देखिये, दिन-दहाड़े कैसी डकैती है। इस उदाहरण का पृष्ठ २०६ पर कहीं

नामो-निशान तक नहीं। वह तो पृष्ठ ३२३ का उद्धरण है। उसके पहले पृष्ठ ३२२ पर वर्णित है, कि 'साधु को उल्लू, मूँग, तूअर, मूँग-फली आदि की फली जिसमे भोजन तो हो थोड़ा और ऊपर के छिलके हों अधिक जो व्यर्थ ही मे फैंके जाते है। साधुओं को ऐसी वस्तुओं का ग्रहण करना अनुचित है। भ्रमचारी जी! इस प्रकार वनस्पति के वर्णन मे, मॉस का उल्लेख कहाँ से आ गया? परन्तु भ्रमचारी तो ठहरे ही! मूल-पाठ दे कर मन-घड़न्त अर्थ दे मारा। पाठको! यह भ्रमचारी जी की द्वेप-पूर्ण ओछी बुद्धि का कौशल है। पृष्ठ ३२३ के मूल पाठ का अर्थ जो उन्होंने दिया है, जड़-मूल से गलत है। पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी म० द्वारा अनुवादित आचारॅग सूत्र मे, इस मूल पाठ का अर्थ यूँ दिया है,—

'साधु साध्वी को बहुत बीज वाले फलों का गिर बहुत कंटक युक्त मत्स्य नाम की वनस्पति जिस मे खाना थोड़ा और फेंकना बहुत होवे ऐसे फल ग्रहण नहीं करना चाहिए।'

भ्रमचारी जी! मूल मे अट्ठि, मंस, मत्सय, शब्दों को देख कर ही भड़की भैंस की भाँति उछल पड़े। और चौकन्ने हो कर हकबका गये। इसी से जान पड़ता है, कि शब्द भंडार भी उन का केवल गली कूँचों के भिख-मगों की झोली ही के समान, दीन-हीन है। अजी भ्रमचारी जी जरा शब्द कोष को उठा कर तो देखो। वहाँ,—'अट्ठि गुठलिया। मॉस-गूदा गिर। और मत्स्य-सिंहाड़ा।' दिखाया गया है। अर्थात् जिस में गुठली

अधिक हो और गूदा कम हो। जैसे सिंहाड़े में उसके तीनों कोनों पर तीखे तीखे काँटे, ऊपर का छिलका अधिक और गूदा कम होता है। ऐसे फल प्राशुक होने पर भी साधुओं के लिए छिलके सहित अग्राह्य ही हैं। इसी प्रकार सीता फल भी साधुओं के लिए त्याज्य है।हमारे इतना लिखने पर भी यदि भ्रमचारी जी की तसल्ली न हो पाई हो तो उन्हें, स्वर्गीय श्री देवीलालजी महाराज कृत 'सद्बोध-प्रदीप' को भली भाँति देख जाना चाहिए।

तब भ्रमचारी ने दशवैकालिक सूत्र के पृष्ठ ५८ पर के उद्धरण की बात कही है। परन्तु यहाँ भी भ्रमचारी जी ने उसी अपनी उठाऊगिरी बुद्धि का नमूना दिखाया है। उपर्युक्त सूत्र के पृष्ठ ५८ पर तो गोचरी के लिए गया हुआ साधु तपादिक से अथवा रोगादिक के कारण से यूँ लिखा हुआ है। परन्तु जड़-बुद्धि भ्रमचारी जी ने रोगादिक के स्थान पर रसादिक लिख मारा है। पाठको ! कहिये, भ्रमचारी जी की चोरी की चाट अब कहाँ तक उछालें मार रही हैं। कुछ भी हो। परन्तु चोर के पैर तो कभी होते ही नहीं। उसके जीवन का पद-पद धोखे से आक्रान्त होता है।

आगे, श्री अमोलक ऋषि जी महाराजके द्वारा अनूदित श्री दशवैकालिक सूत्र के पृष्ठ ५८ पर तो 'आहार करते समय भोजन मे गुठली, कंटक, त्रण, काष्ट का टुकडा, कंकड़, वाल, रुई, मक्षिकादि कलेवर यूँ लिखा है। और भ्रमचारी जी ने अपने भोले-भाले ससार की आँखों मे धूल गिरा कर भक्षिकादि कलेवर की जगह

'मच्छादिकलेवर' लिख मारा है। इन की ऐसी काली करतूतों ने तो दुनिया के बड़े-से-बडे चोरों तक के कार्यों तक को मात कर दिखाया है, क्योंकि उन की चोरी तो आँखें बचा कर होती है। परन्तु ये तो प्रत्यक्ष ऐसा कर रहे हैं! परन्तु ये सारी चोरियाँ भ्रमचारी को यूँ करनी पड़ रही है, कि अपने सत् (?) शास्त्रों मे मास खाने की बात को सिद्ध करने के लिए उत्सुक हैं। हमारी ओर से तो उन्हें यह चितौनी है, कि उन्हे हमारे स्था० शास्त्रों में तो उन की जिह्वा-लोलुपता की तृप्ति का करने वाला कोई एक भी प्रमाण कहीं नाम तक को नहीं मिल पावेगा। अस्तु।

'काग पढ़ायो पींजरे, पढ़ गयो चारों वेद।
तदपि चित्त भिष्ठा दियो, अन्त ढेढ़ को ढेढ़ ॥'

पाठको! सारांश यह कि भ्रमचारी जी और उनके नगे गुरु लोग घर-बार छोड़ते हैं, धन और माल पर बत्ती लगाते हैं, माँ-बाप की सेवा से मुँह मोड़ते हैं, जैन-धर्म धारण करके महाव्रती के नाम से भी पुकारे जाने लगते हैं, फिर भी मांस, भक्षण करना, होम हवन करना, बलि चढ़ाना, योनि पूजन, आदि-आदि विषयों के विधानों से कूट-कूट कर भरी हुई नवीन कल्पित पुस्तक की रचना भी इसी लिए करते होंगे! अरे यह तो वह बात हुई कि—

'कहा कियो इत आय कर, कहा करोगे जाय!
इव के रहे न उत के रहे, चाले हो मूल गँवाय!!

अजी! न तो इसी लोक में प्रशंसा के पात्र बने और न

परलोक ही को सुधारा । उलटी गाँठ की पूँजी भी बैठे ठाले यूँ ही गँवाई ।

मुझे सूर्य के प्रकाश की भाँति पूर्ण विश्वास है, कि भ्रमचारी जी की आँखें, इस पुस्तक को पढ़ कर अवश्य ही खुल जावेंगी । तब वे अपने दिगंबर ग्रन्थों मे वर्णित अधटित घटनाओं और भयंकर अश्लीलताओं को जैसे योनि पूजन, माँस भक्षण, बलि चढ़ावा, मारण, मोहन, वशी-करण आदि २ समस्त कुत्सित बातों को अवश्य ही परे निकाल कर फैंक देंगे। अन्यथा, फिर यह लेखक विवश होकर, उन सारी बातों की भर-पेट समीक्षा करने के लिए उतारु होगा ।

'आगे चल कर, कपडे के साथ संबन्ध न होते हुए भी, तथा स्थानकवासी समाज द्वारा मान्य न होते हुए भी, प्रवचन-सारोद्धार' के पृष्ठ २६३ की गाथा ६८३ वीं का प्रमाण भ्रमचारी जी ने पेश किया है । यही तो उस की आन्ध्र महा सागर जैसी अ-ज्ञानता है । उन को यह तक तो ज्ञान नहीं, कि कौन ग्रन्थ तो स्था० समाज द्वारा माननीय हैं, और कौन से श्वेताम्बर मूर्ति-पूजकों के द्वारा । अजी निरक्षर भट्टाचार्य जी ! तब क्यों मान-न-मान मैं तेरा महमान' बनने के नाते बीच-बीच में मुँह मार कर अनधिकार चेष्टा करते हो ? भ्रमचारी जी को यहाँ तक तो ज्ञान न रहा कि 'वे स्वय अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर तो 'सन, सूत, और ऊन के वस्त्रों' का जिक्र कर रहे हैं, और ज़रा ही आगे बढ़ कर 'चमड़े के वस्त्र रखते

थे' ऐसा लिख रहे हैं। पाठको! इन्हें अपने कथन तक का विश्वास नहीं। फिर दूसरों की चर्चा का चर्वण तो ये कर ही क्या सकेंगे! ये तो बेपेंदी के लोटे-भर है, जो जिधर भी ढलाव पाया लुढक पड़ते हैं। हाँ, इस गाथा मे अमुक-अमुक पशु के चमड़ा होता है, का वर्णन तो जरूर है, परन्तु यह कहाँ, कहा गया है, कि इन चमड़ों के कपड़ों को साधु पहनते थे, या आज पहन रहे है। यह तो सभी कोई जानते और मानते हैं, कि स्था० साधु सूती तथा ऊनी कपड़ों का प्रयोग-मात्र करते हैं। अतः भ्रमचारी जी का यह स्वप्न भी एक दम झूठा साबित हो गया।

'भद्रबाहु संहिता' मे जो कहा गया है, वह बिलकुल ठीक और अक्षरशः यथार्थ है, कि भरत-क्षेत्र का जो कोई मुनि इस दुषम काल मे सघ के क्रम को मिटा कर, दिगंबर हुआ भ्रमण करता है वह मूढ़ है। और श्री सघ से बाहर तथा खारिज समझना चाहिए। इसी भावार्थ के अन्तर्गत बीच ही में; 'अर्थात्' शब्द को और जोड़ कर उसके आगे भ्रमचारी ने, दिगंबर वृत्ति के सम्बन्ध मे, जो इबारत अपनी ओर से घुसेड़ मारी है, वह निरी काल्पनिक और थोथी है। जैसे चौथे आरे मे कपड़े पहनते थे, ठीक उसी आज्ञा के अनुसार पंचम आरे मे भी साधु कपड़े पहनते हैं, अत. भ्रमचारी जी की ओर का दिया हुआ काल्पनिक नोट निरा थोथा, झूठा और मन-घड़न्त है। भद्रबाहु की गाथा यह सिद्ध कर रही है, कि चौथे आरे मे कपड़े पहनने

वाले साधुओं का धर्म ही प्रामाणिक धर्म था। और पंचम काल में अभिमान के वश नंगे होकर जो साधु कहलायेंगे, वे भगवान् की आज्ञा के बाहर हैं। एक स्थल पर तो कपड़े पहनने और दूसरे स्थल पर नंगे रहने के, ऐसे विरोधात्मक वचन तो स्थानकवासी समाज के माननीय सूत्रों मे कहीं भूल कर भी नहीं।

वे व्यक्ति जो हिंसक हैं, स्थानकवासी गृहस्थियों की आँखों मे घोर पापी हैं। वरन् वे जो अहिंसक होने पर फिर किसी भी जाति-पाँति के क्यो न हों, सदा-सर्वदा धर्मात्मा ही हैं। इसके विपरीत वे दिगंबर नंगे गुरु जो अपने शास्त्रों मे योनि-पूजा बलि होम, और बीस तोले के भीतर-माँस खाने तक की बातें बता गये हैं, उन्हीं के अनुयायी हो कर भ्रमचारी जी, अपने उन नंगे गुरुओं के कान तक खुरकाने मे हिचपिचाते हैं, कि वे यह कर क्या गजब का गये हैं।

स्थानकवासी साधु तो चमड़े के कपड़े कभी पहनते ही नहीं 'हाथ कंगन को आरसी की दरकार ही क्या ?' तब बलात्कार पूर्वक यह आक्षेप उन पर मढ़ना, भ्रमचारी जी की हीये की आँखों का नहीं होना मात्र है। और कुछ नहीं। जो स्वप्न तक में कभी है ही नहीं, उसे सत्य सिद्ध करने के लिए जो 'बृहद्-कल्प-सूत्र' का पाठ उन्होंने दिया है वह भी अधूरा। पूरा करते भी तो कहाँ से। परन्तु वे तो—'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा। भानुमती ने कुनबा जोड़ा।'—की बात से अपने अभीष्ट की सिद्धि करना चाहते है। मगर आकाश कुसुम भी कभी फूला है।

कदापि नहीं।

पाठक वृन्द ! 'वृहद्-कल्प-सूत्र' के पृष्ठ ३४ और ३५ पर का मूल पाठ यूँ है—

"नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइ धारित्तए परिहरित्तएवा।"

अर्थात् साध्वी के लिए, किसी कार्य वश, एक रात्रि के लिए भी, रोमवाला चर्म रखना अकल्पनीय है।

अब, साधुओं के लिए जो मूल पाठ है, उसे भी देखिए।

'कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं धारेत्तएवा परि हरित्तएवा से विपाइं पडिहारिए नो चेवणं अपडिहारिए से वियाइं परिभुत्ते नो चेवणं अपरिभुत्ते से वियाइं एगराइए नो चेवणं अणेगराइए।'

अर्थात् साधु को रोमवाला चर्म रखना, भोगवना कल्पता है। वह भी गृहस्थी से पढ़ियारा लेना, अर्थात कार्य कर के पीछे दे दूँगा, ऐसा कह कर ग्रहण करना। पर यदि गृहस्थी पीछा लेने से इन्कार करे, तो ग्रहण नहीं करना। वह चर्म भी जो गृहस्थी ने यदि अपने काम मे लिया हो तो ग्रहण करना, अन्यथा नहीं। और वह भी केवल एक ही रात के लिए भोगवना कल्पता है। किन्तु विशेष अर्थात् अधिक दिनों के लिए नहीं।

भोले भ्रमचारीजी ! इन मूल पाठों से तो यही सिद्ध हुआ, कि साधुओं को रोगादि कारणों के समय, यदि चर्म की आवश्यकता आ पड़े, जैसे कि वर्तमान् मे गर्म पानी रबर की थैली मे

भर कर, तपाने का काम उससे लिया जाता है, चर्म की थैली या केवल चर्म ही को ऊपर बाँधने आदि के लिए अधिक-से-अधिक एक रात भर के लिए काम मे लिया जा सकता है। मगर भ्रमचारीजी का बुद्धि को कोई भयकर रोग लग गया है, जो इससे रबर की भाँति खींच-तान करके वे पहने जाने वाले चमडे के कपड़े का अर्थ निकाल रहे हैं। परन्तु वह तो बिलकुल ही निराधार और गलत है। क्योंकि भ्रमचारी जी को इतना तक भान नहीं, कि कपडा तो बारहों महीने और बत्तीसों घड़ी पहना जाता है। परन्तु चमड़े के वस्त्र तो वे ही लोग बारहों मास पहन सकते हैं, जो ध्रुव-प्रदेशों जैसे ठण्डे मुल्कों के निवासी हों। इस मूल पाठ मे तो, 'एगराइए णो चेवणं अणेगराइए' से प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि केवल एक रात्रि-भर के लिए ही। दूसरे दिन तो उसे, जिसका जिस को दे ही देना चाहिए। पाठको ! अब आप ही बताइए, कि क्या इस एक दिन-भर के चर्म धारण कर लेने ही से बारहों मासों के वस्त्र पहनने का काम पूरा हो जाता है ? और शास्त्रोक्त आज्ञा भी पहनने की केवल एक ही दिन की है। अत इस स्पष्टीकरण से भी यही निर्विवाद-रूपेण सिद्ध हुआ, कि चमडे के वस्त्रों को पहनने के सम्बन्ध की जो मन-घड़न्त बात भ्रमचारी जी ने अपनी भ्रमित बुद्धि से कह मारी है, वह भी सर्वथैव असत्य और आगम विरुद्ध है। कपड़े की जगह चमड़े के वस्त्रों को धारण करने का विधान तो जैनागमों में कहीं भी नहीं।

भ्रमचारी जी ने फिर 'प्रवचन-सारोद्धार' को उठाया। और लिख मारा, उसके पृष्ठ १६५ के एक उद्धरण को। और उससे सिद्ध करने की कुचेष्टा की, कि स्था० साधु चमड़े की पुस्तक रखते हैं। उसी परिलेख मे फिर उन्होंने पृष्ठ २६३ का वर्णन घुसेड़ दिया। और उससे स्था० साधुओं को जूते पहनने का लांछन लगाया। परन्तु ये दोनों बातें, शशकशृंग के समान निरी निराधार और पागलों का प्रलाप-मात्र है। क्योंकि स्थानकवासी साधु, देशी कागजों पर लिखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थ और शास्त्र अपने पास रखते हैं। तब चमड़े की पुस्तक रखने का उन्हें कोई प्रयोजन ही कौन सा? और जूते अपने जीवन मे वे कभी पहनते नहीं। यह बात तो बच्चे-से-बच्चे तक को भली भाँति विदित है। परन्तु ऑंधरी बुद्धि के भ्रमचारी जी को यह बात चाहे ज्ञात हो, या न हो, यह बात निराली है! अस्तु।

फिर आचारॅग सूत्र के पृष्ठ ५५६ के चर्बी-मर्दन के उद्धरण को, भ्रमचारी जी ने पेश किया है। वह भी उनकी निरी नासमझी का नमूना है। क्योंकि, जैसे, समय-असमय, दिगबर नंगे मुनियों के शरीरों पर, नारायण तैल, सिंह, सूअर तथा भेड़ की चर्बी और नाना भाँति की मछलियों के तैलों का मर्दन और हाथ-पैरों के फट जाने पर वैसलीन का मालिश, किया जाता ही होगा? भ्रमचारी जी! कहिए, तो वे तैलादि क्या होते हैं? उन में किन-किन प्राणियों का तैल होता है? क्या उनमे चर्बी का कोई मिश्रण नहीं होता? भ्रमचारी जी ने यदि किसी प्रयोग

शाला को जाकर अपनी आँखों से देखा होता, तो उन्हें बिना किसी पशोपेश के स्वीकार कर लेना पड़ता, कि जितनी भी तैलों में चिकनाइयाँ होती हैं, वह चर्बी के कारण ही तो हुआ करती हैं। बस, भ्रमचारी जी। इसी प्रकार किसी रोग विशेष के कारण, शास्त्र में, स्थानकवासी साधु के लिए चर्बी मिश्रित औषध वगैरह मर्दन का विधान यदि हो भी, तो आपत्ति ही इसमे कौन-सी है। फिर भी लेखक को, सोलह आना छान-बीन के पश्चात्, इस बात का, जो पता लग पाया है, उस से तो वह दावे के साथ यही कहने का साहस करता है, कि वे मुनिराज, जो विगत तीस और चालीस वर्षों से संयम का पालन कर रहे हैं, उन्होंने आज तक अपने शरीर पर चर्बी का मर्दन कभी भी नहीं किया। यह सब होते हुए भी भ्रमचारी जी बार-बार यही चर्चा उठाते हैं। यह तो वह बात हुई कि जैसे चूड़ा (भंगी) लोग, राज-भवनो के अन्दर भी टट्टी ही को ढूँढते फिरते हैं, ठीक वैसे ही भ्रमचारी जी सर्वज्ञों के आशयों को न समझ कर, केवल छिद्रान्वेषण ही करते फिरते हैं। खैर, इस मे भी हमारी कौन सी हानि है? मगर क्यूँ जी, भ्रमचारी जी! तुम्हारे दिगंबर धार्मिक ग्रन्थों मे, जो यत्र-तत्र योनि-पूजा, होम, बलि, मारण, मोहन तथा उच्चाटनादि करने, और मद्य, माँसादि के खाने-पीने के सम्बन्ध मे नाना भाँति के विधान बताये गये हैं, उन से तुम्हारे दिगंबराचार्यों ने धर्म की कौन सी उन्नति समझी है? क्योंकि, योनि-पूजा का जो कथन है, वह तो निर्लज्जता से सराबोर है।

ऐसी अभूत पूर्व उक्तियाँ और सूझ तो कोक ग्रन्थों तक में प्रायः नहीं पाई जातीं। हाँ, अब याद आया, कि कदाचित्, कोकाज के द्वारा रही हुई उसी त्रुटि की पूर्ति के लिए, इन दिगम्बराचार्यों को खूब ही दूर की सूझी। तभी तो उन्होंने अपने धर्म-प्राण ग्रन्थों मे, सन्तान-प्राप्ति का यह लाजवाब नुस्खा, लिख ही तो मारा। बलि, होम, मारण और उच्चाटन आदि मे पंचेन्द्रिय जीवों तथा मनुष्यों तक का घात होता है। मदिरा; कीड़ों का अर्क है ही। और माँस विना पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा के कभी मिलता नहीं। यह तो कभी हुआ नहीं, कि मदिरा और माँस, किसी वृक्ष से टपक पड़ते हों, या आकाश से बरस जाते हों, या किसी देवता के द्वारा प्राप्त होते हों, अथवा किसी खदान से निकाले जाते हों। ब्रमचारी जी यह तो तुमने भी अपनी पुस्तक ही मे स्वीकार किया है, कि उच्चाटन, बलि, यज्ञ, मदिरा तथा माँस की प्राप्ति तब ही होती है, जब कि पंचेन्द्रिय जीवों का बध होता है। हा हन्त ! अब बेचारे इन दीन-हीन मूक प्राणियों की दया भी हो, तो कैसे ? यों तो बलिदानों मे, शिकारों मे, मदिरा जैसे कई प्रकार के अर्कों के खींचने मे, असंख्य पंचेन्द्रिय जीव, आज तक तलवार, छुरे, बन्दूक आदि के घाट उतारे जाते ही थे। उन अनाथ असहायों की कहीं थोड़ी-बहुत कोई दाद सुनने वाला था; तो एक-मात्र पवित्र जैन-धर्म। परन्तु जब से दिगंबरी फिरका चल पड़ा है, और उस के दिगंबरी आचार्यों ने जब से उच्चाटन बलि, होम, योनि-पूजा, मदिरा, माँस तथा मधु का सेवन आदि

के विधानों को बताया है, तब से तो इन बेचारों की रही-सही जान पर मानो वज्र ही टूट पड़ा है। भ्रमचारी जी ! कहिये, अपने घर की बात का कुछ पता है, कि जब एक साधु, जैन-धर्म के संयम से पतित हो गया था, और स्वच्छन्दता के कारण अपने गुरु के द्वारा गच्छ से अपमानित तथा बहिष्कृत कर दिया गया था। अजी इसी पतित साधु ने द्वेष के वशीभूत होकर, वीर संवत ६०९ के लगभग इस पृथक् दिगम्बर मत की नींव डाली थी। तब से आज तक इन दिगम्बर नंगे गुरुओं के लिए न जाने कितने पचेन्द्रिय जीवों के प्राणों का हरण अपने भाँति-भाँति के हिंसक विधानों के द्वारा हुआ होगा ? कौन कह सकता है।

भ्रमचारी जी ! ज़रा अपने दिल और दिमाग को ठिकाने लाइये। स्थानकवासी संघ तो, उसी परम पुनीत संघ मे सम्मिलित हैं, जिसमे कि भगवान् महावीर द्वारा निर्वाचित चतुर्विध सघ की स्थापना की गई है। इस पावन संघ के सम्मिलित होने वालों के शास्त्रों, मे वैसे भाँति-भाँति के हिंसक विधानों की कहीं कोई गन्ध तक नहीं। जिनका दिगंबरी शास्त्रों मे भर-पेट उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत हाँ हमारे इस पवित्र संघ के सच्छास्त्रों मे अहिंसा-धर्म एव सत्य-धर्म के विधान तो खूब ही कूट-कूट कर भरे पड़े हैं।

आगे, चलकर भ्रमचारी जी ने 'शास्त्रोद्धार-मीमांसा' के पृष्ठ ६० का उद्धरण लिख मारा है। उसी उद्धरण मे यह स्पष्टतया लिखा है, कि—'जिन शास्त्रों या ग्रन्थों मे परस्पर विरोधा-

त्मक वचन हों, और उन वचनों से साधुओं की क्रिया मे शिथिलता आती हो, या अश्लीलता का पोषण होता हो, तो वे शास्त्र सचमुच में शास्त्र ही नहीं हैं। वे प्रामाणिक ग्रन्थ भी नहीं हो सकते। जिन २ शास्त्रों तथा ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख हो, वे सब-के-सब श्री अर्हन्त प्रणीत तो दूर रहे, परन्तु एक साधारण साधु के द्वारा लिखित भी नहीं कहे जा सकते। उन्हें स्था० समाज तो मानने ही क्यों लगा? हाँ और जो भी कोई उन्हें मानता-गिनता है, उसे भी वह अपने बल-भर हटकता है। उपर्युक्त शास्त्रोद्धार-मीमांसा के पृष्ठ ६२ पर ऐसा स्पष्टतः उल्लेख होते हुए तथा उसी को अपनी पुस्तक में स्वयं भ्रमचारी जी लिखते हुए भी निरक्षर बन जाते हैं। और स्था० साधुओं पर लुहार की धमण-शाला को धम कर स्त्री संगम की इच्छा पूर्ति कर लेने का मिथ्या दोषारोपण, लगा रहे हैं। अरे भ्रमचारी जी! इस बात का तो उन के बत्तीसों सूत्रों मे कहीं कोई जिक्र तक नहीं। इस के विपरीत उनके शास्त्रों मे तो यही लिखा है, कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के हेतु साधुओं को अपने प्राण तक देदेने मे जरा भी आगा-पीछा न करना चाहिए। यही बात साध्वियों के लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन के हेतु कही गई है। साथ ही ऐसा काम उन्हें करना चाहिए, जिस से ब्रह्मचर्य कभी भूल कर भी खण्डित न हो 'भ्रमचारी जी' इतना होते हुए भी तुम अपनी अज्ञता से बाज़ नहीं आते?

भाई भ्रमचारी जी! यदि तुम्हें हँसना और मज़ाक़ उड़ाना ही पसन्द है, तो क्यों नहीं तुम अपने नंगे गुरुओं के मिथ्या

आचरणों पर हँसते ? अरे यही क्यों ? उनकी काली करतूतों पर तुम यदि दो दो आँसू भी बहाओ तब भी थोड़े ही हैं।

देखिये, दिगंबर चर्चा सागर के पृष्ठ ३२० पर लिखा है कि—

'यदि कोई (दिगंबर मुनि) किसी से एक बार मैथुन कर ले तो उसका प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण सहित पंच कल्याणक है। अर्थात् कुछेक बार णमोकार मन्त्र-मात्र जप लेने पर पंच-कल्याणक उपवास विधि पूरी हो जाती है। अथवा एक-सौ आठ बार णमोकार मन्त्र पढ़ लेने पर, एक उपवास हो जाता है।

इसी ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ २१७ पर यूँ लिखा है, कि—

'बहुरि बहु बार मैथुन करे तो महाव्रत भंग होय।'

वाह ! धन्य !! क्या कहना है !!! तब तो दिगंबर मुनियों के लिए सब ओर से पौ बारह हैं। फिर भी उन्हें यह सुविधा और छूट, कि एक-दो बार मैथुन कर लेने पर भी उनका महाव्रत भंग नहीं होता। ठीक तो है, जिस प्रकार बार-बार मैथुन करने से शक्ति का बाँध टूट जाता है, ठीक उसी प्रकार अनेकों बार मैथुन करने पर दिगंबर नंगे मुनियों के महाव्रत टूटते होंगे। धन्य है ऐसे दिव्य (?) विधानों पर !!!

पाठको ! देखा, क्या ही उत्तम युक्ति इन दिगंबर नंगे मुनियों ने अपनी काम वासना पूर्ति के हेतु खोज निकाली है ? इन के इस अनुसंधान से तो आज के इस युग के बड़े से-बड़े वैज्ञानिकों को भी अपने दाँतों तले अँगुली देनी पड़ती है।

पाठको! अब ज़रा और आगे बढ़िये। उसी ग्रन्थ में इन दिगंबर मुनियों के लिए लिखा है, कि मुनि रात को एक-बार भोजन पान करे तो तीन उपवास अर्थात् तीन बार णमोकार मन्त्र का जाप करना चाहिए।' ठीक है, दिगवर मुनि जब मैथुन करेंगे, तो रात मे अपनी प्रेमिका को कुछ मिठाई आदि तो अवश्य ही खिलानी पड़ेगी। साथ मे उन्हें भी कुछ खाना भाग होगा। तभी तो तीन बार नवकार मन्त्र के दण्ड ग्रहण का विधान रख दिया है। यदि प्रेमिका अपने प्रेमी (दिगंबर मुनि) से कह दे कि मैं तो 'मूँगेड़े—मूँग की गली और पिसी हुई दाल के भुजिये(पकोड़े)खाऊँगी' तो फिर प्रेमी मुनि-राज(?) अपनी प्रियतमा की बात को टाल भी कैसे सकते है। अतः बहुत सम्भव है कि फिर तो उनको स्वयं पाकी बन कर उसी समय मूँगेड़े भी बनाने मे जुट जाना पड़े। कदाचित् इसीलिए उसी ग्रन्थ मे लिखा है, कि अपने हाथ से मुनि भोजन बना कर खावे तो प्रायश्चित्त एक उप-वास अर्थात् एक सौ आठ बार णमोकार मन्त्र पढ़-भर लेना चाहिए।

ब्रह्मचारी जी! यदि दिगंबर आर्यिका अपनी काम-वासना की पूर्ति करना चाहे, तो उस के लिए भी उसी ग्रन्थ मे वही दण्ड विधान है, जो कि दिगंबर मुनियों के लिए है। इस नाते, इन दिगंबर नंगों ने, स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का क्या ही सुन्दर पाठ (?) संसार को पढ़ाया है! मगर हमे बड़े ही खेद के साथ यहाँ यह लिखना पड़ता है, कि मुक्ति के संबन्ध

में उनका यह लिखना समानाधिकार का सुन्दर पाठ न जाने कहाँ चम्पत हो जाता है। मुक्ति की वात मुँह से निकलते ही वे लपक कर बोल उठते हैं, कि स्त्रियों के लिए मोक्ष है ही नहीं। कैसी भयंकर विडम्बना है।

जैसे को तैसा मिला, किस को कहें अशुद्ध।
कुत्ते ने मुख खर का चाटा, दोनों नहीं हैं शुद्ध॥

पाठको! बड़ी हँसी आती है, कि और तो और, परन्तु दिगंबर मुनि यदि किसी को जी जान से मार भी डाले तो उस क्रूर-कर्मी के लिए मामूली सा दण्ड-विधान उनके शास्त्रों मे बताया गया है। उन मे उन्हें इतनी भारी छूट-सी दे दी गई है, कि जितनी तो आज की हमारी भारत-सरकार तक, कभी नहीं दे सकती। देखिये, दिगंबरों के 'चर्चा-सागर' धार्मिक ग्रन्थ में पृष्ठ ३१७ से ३२६ तक मे कहा गया है, कि मुनि को मार डाले, श्रावक, बालक, स्त्री, और गाय को मार डाले, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र के प्राण ले-ले तो भी वह दिगंबर मुनि बेला, तेला उपवास मात्र करके ही शुद्ध हो जाता है। इसी भाव की बात उन की पूजा सार में कही गई है, कि—

ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्कर सर्व पाप कृत्तिम्।
जिनांघ्रि गन्ध सपर्कात् मुक्तो भवति तत्क्षणम्।'

अर्थात् गौ, ब्राह्मण, और चोर की घात करने वाला महा भयानक पापी तक, जिन-प्रतिमा के चरणों से स्पर्शित, केवल गन्ध लेपन द्वारा ही सर्व पापों से मुक्त हो जाता है।

भ्रमचारी जी ! भव-बन्धन को तो अभी परे रखे रहिये। अभी तो आप उस गन्ध-लेपन के द्वारा अनेकों वर्षों से जेल में सडते हुए बेचारे कैदियों ही को मुक्त कर दिखा दीजिये। क्योंकि भव-बन्धन के सामने, है भी यह एक अति ही न कुछ-सी बात।

भ्रमचारी जी ! अब आप को किस बात का प्रमाण चाहिए ? खैर अब की बार तो इतना ही सही। अब आप मुझे भूल कर भी कभी आह्वान न करें। नहीं तो अब की बार मैं निःसंकोच हो कर अपने दिल की सारी आन्तरिक बातों का ज्यों-का-त्यों उल्लेख कर दूँगा।

भ्रमचारी जी ! तुम्हारे धर्म-रसिक शास्त्र के पृष्ठ २३८ के श्लोक ५० में क्या कहा है ? जरा दिल खोल कर उसे भी तो कह डालो ! छिपाते क्यों हो !

'ऋतु स्नाना तु या नारी, पतिं नैवोपविन्दति।
शुनी वृकी श्रगाली; स्याच्छूकरी गर्दभी च सा ॥'

अर्थात् जो स्त्री ऋतु स्नान करके पति के पास नहीं जाती। वह मर कर कुत्ती, भेड़, हिरनी शृगालिनी, शूकरी और गधी होती है।

कहिये, भ्रमचारी जी ! आप के यहाँ दिगम्बर आर्यिकाओं के लिए ऋतु स्नान के बाद उनकी इच्छा पूर्ति होती ही न होगी। और जब उनकी इच्छा-पूर्ति ही न हुई तो आप के पवित्र (?) शास्त्रों की सम्मति के अनुसार उन सब-की-सब बेचारियों को

तो मरने के पश्चात् कुत्तियाँ, भैंसें, हिरनियाँ, शृगालियाँ, शूकरियों भॅडमूरियों, और गधियों के का जन्म धारण करना पड़ता होगा ? तब तो क्यों जी वे उस जन्म में तुम्हारे इस दिगम्बर धर्म को हजारों बार अपनी अन्तरात्मा से कोसती होंगी न ? और तुम्हें तुम्हारे नंगे गुरुओं को पद-पद बद-दुआएँ देती हुई हिकारत की नजरों से देखती होंगी न ? हाँ माना, कि तुम्हारी दिगम्बर आर्यिकाओं के लिए तो, तुम्हारे शास्त्रों ने न कुछ-सा दण्ड-विधान बताते हुए मार्ग खुला करके, उन्हें इस तिर्यञ्च-योनि में जाने से तो कम-से-कम बचा लिया है ! परन्तु क्यों जी उन में बेचारी बेवा औरतों के उद्धार का तो उन में कहीं एक भी उपाय नहीं बताया ? भ्रमचारी जी उन बेचारियों के साथ इतना घोर अन्याय क्यों ?

आगे, भ्रमचारी जी ने जो बात अपनी दूसरी शंका में पेश की है, उसके सम्बन्ध में उन को यहाँ तक भान नहीं है, कि वहाँ उनने जो पहला वाक्य लिखा है, इसी से उनके दूसरे वाक्य के हाथ-पैर लूले लंगड़े हो जाते हैं ! क्योंकि मन्दिर पर उगे हुए वृक्ष को काटने का स्थानकवासी सूत्र में कहीं कोई जिक्र तक नहीं ।

भ्रमचारीजी की तीसरी शंका भी दूसरी शंका के पहले ही वाक्य से अस्त-व्यस्त हो जाती है। क्यों कि, स्थानकवासी साधु हरित-काय पर पग धरने तक को राजी नहीं। यही नहीं वे तो उसे छूने तक में घोर पाप के दर्शन करते रहते हैं। तब वे वृक्ष

को तो भला, काटेंगे भी क्यों ? और कैसे ?

हाँ, भ्रमचारी जी ! अपने दिगंबर नंगे गुरुओं के लिए यह बात कहते, तो किसी अंश में उचित भी थी। देखिये, १ दिसम्बर सन् १९३६ ई० के 'सत्य-सन्देश' मे दिगंबर·· ···मुनि, हरित-काय; ककड़ी आदि को अष्टमी, चतुर्दशी के दिन खाने में, थोड़े और सौ–दो सौ नहीं, वरन् पूरे-पूरे एक लाख उपवासों का फल बतलाते हैं। पर जो दिगंबर गृहस्थ ऐसा नहीं करते, या ऐसा करने मे कोई ऐतराज़ पेश करते हैं, उन्हें दिगंबर मुनि ना-समझ, नादान और अधर्म को धर्म समझने वाले बतलाते हैं। यहाँ तक कि दिगबर मुनि····· ने पूरे-पूरे भादव मास तक के लिए यह प्रतिज्ञा ग्रहण की, कि 'मैं दूध, शक्कर, अगूर और ककड़ी के सिवाय और कुछ ग्रहण ही न करूँगा।' जिन के चौकों में हरितकाय की शाक यदि न मिले, तो वे उलटे पैरों लौट पड़ते हैं। भादव सुदी १४ का दिन स्वयं गृहस्थों के लिए उपवास का होते हुए भी, वे लोग उस दिन भी, दिगंबर······ मुनि को अंगूर खिलाते हैं। पाठको ! यह तो हुई एकेन्द्रिय जीवों की बात ! अब ज़रा उसे भी सुन लीजिये, कि इन दिगम्बर मुनियों का; कीड़ो-मकोड़ों के प्रति कितना ऊँचा (?) दया का भाव है !

जयपुर मे दिगंबर···मुनि जी के पास एक दीक्षा हुई थी। उस समय का समाचार, १६ दिसम्बर १९३५ ई० के सत्य-संदेश मे, यूँ छपा था.—

'जो मैदान वैराग्य रंग-मंच के लिए नियत था, वहाँ लाखों कीड़े-मकोड़े इधर-उधर विचर रहे थे। भोले भक्तों ने चतुर्दशी-जैसे पर्व के दिन, उन मूक कीड़ों पर ही बिछायत की। और उस धर्म प्रभावना के ढोंग में, हजारों कीड़े-मकोड़े रूँध गये। सुना है, कि कुछ दयालु पुरुषों ने···· मुनि से दूसरी जगह मुनि-दीक्षा-विधान करने का निवेदन किया था। परन्तु वे इस पर बुरी तरह से बिगड़े और कहा, 'हम बार-बार कहाँ फिरते रहेंगे।'

पाठको! अब आप स्वयं ही सोचें, कि हरित-काय वगैरह के सम्बन्ध में आक्षेप, स्था० साधुओं के लिए लागू होता है, या दिगंबर नागाओं के लिए?

भ्रमचारी जी की चौथी शंका भी निरक्षर-भट्टाचार्य-जैसी ही है। क्योंकि स्थानकवासियों के मान्य सूत्रों में तो कहीं भी कोई भद्दी कहलाने जैसी एक बात तक नहीं! परन्तु हाँ जितनी भी भद्दी-भद्दी बातें हैं, दिगम्बरों के धर्म-शास्त्रों में तो, अवश्य ही ठूँस-ठूँस कर भरी पड़ी हैं। और उन्हें वे वीतराग-प्रणीत बतलाते हैं। जिनके कुछेक आदर्श नमूने, इसी ग्रन्थ में हम यथा-स्थान, दर्शा आये हैं।

आगे चल कर, भ्रमचारी ने फिर वही पुराना पचड़ा सामने ला धरा है, कि 'इन लोगों में कभी कोई उच्च कुलीन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, साधु नहीं हुए।' हम भ्रमचारी जी की इस बात का उत्तर यथा-समय, एकबार पहले भली प्रकार दे आये हैं। यहाँ

तो हम केवल इतना ही कहेंगे, कि एक बार तो वे कहते हैं, कि क्षत्रिय, राजपूत नीच कुल के होते हैं। और वे ही दूसरी बार बताते हैं, कि क्षत्रियों का कुल उच्च है। जिस मनुष्य को स्वयं अपनी ही जबान की प्रतीति पक्की न हो, उसका विश्वास, दूसरा तो कोई कर ही कब सकता है! यह है भ्रमचारी जी के द्विजीह्वा की प्रत्यक्ष पहचान! भ्रमचारी जी! स्थानकवासी साधुओं के समुदाय में आज भी सैकड़ों साधु, वैश्य कुल के हैं। उनमें नीच क़ौम का तो एक भी साधु नहीं है।

भ्रमचारी जी! अब तुम ज़रा अपने ही घर की बात को बताओ, कि तुम्हारे दिगंबर समाज में जितने भी नंगे गुरु लोग हैं, क्या वे सब-के-सब ब्राह्मण ही कुल के हैं? या और भी किसी क़ौम के? यदि और क़ौमों के भी हैं, तो क्यों नहीं, तुम पहले अपने ही खँडहर को देख लेते हो! देखो, तुम्हारे दिगंबर मत की ओर से प्रकाशित, 'शान्ति-सिन्धु' विशेषांक' के पृष्ठ ३१३ से ३१८ तक में दिगंबर मुनियों की जाति 'पंचम' बताई गई है। अभी तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियाँ तो भारतवर्ष में शताब्दियों से होती और गिनती में आती जा रही थीं। पर अब यह 'पंचम' जाति कौन सी प्रकट हुई है, भगवान् जाने! अन्यान्य मुनियों की जाति के सम्बन्ध में तो खँडेलवाल, पद्मावती आदि-आदि स्पष्टतः लिखा हुआ है। यही बात वहाँ ऐलक धारियों की जाति के सम्बन्ध में भी स्पष्टतया दिखा दी गई है। भ्रमचारी जी! आप के शान्ति-सागर जी जाति के

पाटील बताये गये है। क्यों भ्रमचारी जी ! क्या तुम अब भी अपनी जाति का गर्व करते ही रहोगे ? अच्छा, और करो शेर के मुँह में हाथ डालने का साहस।

खैर हमें और बातों से मतलब ही क्या ? हमें तो यही बतलाना अभीष्ट था, कि स्था० साधुओं में सैकड़ों ही व्यक्ति उच्च कुलोत्पन्न व्यक्ति आज हैं। और न वे कभी काछी अथवा जुलाहों के घरों ही से भोजन लाते हैं। हाँ यदि भ्रमचारी जी राजपूतों को नीच कौम के और अन्य उच्च जाति के व्यक्ति को जुलाहा कहते हों, तो वह बात निराली है। इस में भी उनका क्या दोष ? दोष तो इस में उन के शरीर को बनाने वाले ताने-बाने का है, जिससे उन की बुद्धि जुलाहों की याद में झुलस-सी रही है। इसके सिवाय, भ्रमचारी जी ! स्था० साधु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के यहाँ से जो भोजन लावेंगे, वह शुद्ध और ग्रहण करने के योग्य होने पर ही लावेंगे तथा ग्रहण करेंगे। भ्रमचारी जी ! तुम एक नहीं, वरन् सैकड़ों बार, इस बात को क्यों न दुहराओ। अपने इस दुहराने की चाल से तो, विद्वानों की नजरों में, तुम निरक्षर ही समझे जाओगे। इसका जवाब तो हम पहले ही दे चुके हैं। अत. पुन उस का वर्णन करना, पिष्ट-पेषण-मात्र है। कुक्रिया से बना हुआ भोजन, स्थानकवासी साधु, न तो आज तक कभी लाये ही, न लाते ही हैं, और न कभी वे लावेंगे ही। हाँ, तुम्हारे नंगे गुरु तो भ्रष्ट भोजन को अवश्य ही खाते हैं। तभी तो जगह-जगह उनका भण्डा फोड़ हो रहा है। उदाहर-

तो हम केवल इतना ही कहेंगे, कि एक बार तो वे कहते हैं, कि क्षत्रिय, राजपूत नीच कुल के होते हैं। और वे ही दूसरी बार बताते हैं, कि क्षत्रियों का कुल उच्च है। जिस मनुष्य को स्वयं अपनी ही जबान की प्रतीति पक्की न हो, उसका विश्वास, दूसरा तो कोई कर ही कब सकता है! यह है भ्रमचारी जी के द्विजीह्वा की प्रत्यक्ष पहचान! भ्रमचारी जी। स्थानकवासी साधुओं के समुदाय मे आज भी सैकडों साधु, वैश्य कुल के है। उनमे नीच क़ौम का तो एक भी साधु नहीं है।

भ्रमचारी जी! अब तुम जरा अपने ही घर की बात को बताओ, कि तुम्हारे दिगंबर समाज मे जितने भी नंगे गुरु लोग हैं, क्या वे सब-के-सब ब्राह्मण ही कुल के हैं? या और भी किसी क़ौम के? यदि और क़ौमों के भी है, तो क्यों नहीं, तुम पहले अपने ही खॅडहर को देख लेते हो! देखो, तुम्हारे दिगंबर मत की ओर से प्रकाशित, 'शान्ति-सिन्धु' विशेषाक' के पृष्ठ ३१३ से ३१८ तक मे दिगंबर मुनियों की जाति 'पंचम' बताई गई है। अभी तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियाँ तो भारतवर्ष मे शताब्दियों से होती और गिनती मे आती जा रही थीं। पर अब यह 'पंचम' जाति कौन सी प्रकट हुई है, भगवान् जाने! अन्यान्य मुनियों की जाति के सम्बन्ध मे तो खॅडिलवाल; पद्मावती आदि-आदि स्पष्टत: लिखा हुआ है। यही बात वहाँ ऐल्हक धारियों की जाति के सम्बन्ध मे भी स्पष्टतया दिखा दी गई है। भ्रमचारी जी! आप के शान्ति-सागर जी जाति के

पाटील बताये गये हैं। क्यों भ्रमचारी जी ! क्या तुम अब भी अपनी जाति का गर्व करते ही रहोगे ? अच्छा, और करो शेर के मुँह मे हाथ डालने का साहस !

खैर हमें और बातों से मतलब ही क्या ? हमे तो यही बतलाना अभीष्ट था, कि स्था० साधुओं मे सैकडों ही व्यक्ति उच्च कुलोत्पन्न व्यक्ति आज है। और न वे कभी काछी अथवा जुलाहों के घरों ही से भोजन लाते है। हॉ यदि भ्रमचारी जी राजपूतों को नीच कौम के और अन्य उच्च जाति के व्यक्ति को जुलाहा कहते हों, तो वह बात निराली है। इस मे भी उनका क्या दोष ? दोष तो इस मे उन के शरीर को बनाने वाले ताने-बाने का है, जिससे उन की बुद्धि जुलाहों की याद मे झुलस-सी रही है। इसके सिवाय, भ्रमचारी जी ! स्था० साधु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के यहाँ से जो भोजन लावेंगे, वह शुद्ध और ग्रहण करने के योग्य होने पर ही लावेंगे तथा ग्रहण करेंगे। भ्रमचारी जी ! तुम एक नहीं, वरन् सैकड़ों बार, इस बात को क्यों न दुहराओ। अपने इस दुहराने की चाल से तो, विद्वानों की नजरों में, तुम निरक्षर ही समझे जाओगे। इसका जवाब तो हम पहले ही दे चुके हैं। अत: पुनः उस का वर्णन करना, पिष्ट-पेषण-मात्र है। कुक्रिया से बना हुआ भोजन, स्थानकवासी साधु, न तो आज तक कभी लाये ही, न लाते ही हैं, और न कभी वे लावेंगे ही। हाँ, तुम्हारे नंगे गुरु तो भ्रष्ट भोजन को अवश्य ही खाते हैं। तभी तो जगह-जगह उनका भण्डा फोड़ हो रहा है। उदाहर-

णार्थ, १ मार्च. सन् १६३६ ई० के 'सत्य-सन्देश' ही को उठा लीजिये, जिस में लिखा है कि—'दिगंबर········जी, व ·· ·· जी. रामगंज मंडो कोटा से आग-बगूला हो दो मील दूरी पर जा ठहरे। भक्त लोग, भगवान् को ढूंढते-ढूढते वहाँ तक भी जा पहुँचे। उन मे से एक मुनि को तो मेवा खिलाया गया। और दूसरे के लिए मीणा जाति की एक ग़रीब स्त्री से दलिया माँग कर बनाया तथा खिलाया गया। आहार लेने के बाद फिर दोनों मे ठन गई। एक कहता था, तू ने मुझे भ्रष्ट कर दिया। तेरे कहने से मैंने मेवा खाया। दूसरा कहता था, तेरे कहने से मेंने दलिया खाया। तूने मुझे भ्रष्ठ बना दिया।

भ्रमचारी जी! देखा न, अब तो अपने नंगे गुरुओं को जो भ्रष्ट आहार करते कराते है? अरे! साथ ही अपने भक्त गृहस्थों तक को ये कैसी २ अभक्ष्य वस्तुएँ खिलाते हैं! उसे भी ज़रा सुन लीजिये दिगंबर · ··· जी ने कहा, 'श्रवक यदि साधु की टट्टी खावे, तो भी कोई हर्ज नहीं। 'देखो ता० १ अगस्त १६३६ का 'सत्य-सन्देश' धन्य! अब बेचारे ग्राम-शूकरों तक के सिर पर दुष्काल का वज्र टूट पड़ा। इन की ऐसी पैनी दृष्टि बेचारे इन ग्राम-शूकर—भॅडसूरों ही के पापी पेट पर क्यों पड़ी? न जाने उनका यह कौन जन्म का वैर बदला है? दिगंबर नंगे गुरु गर्म दूध पीते हैं, तो उस दूध के साथ 'सैनी' पंचेन्द्रिय जीवों के कलेवरों को, वे खाते-पीते हैं। और उन्हीं जीवों के कलेवरों को, मावा, बासुंदी, और मलाई आदि के रूप में वे चट कर जाते हैं।

जैसा कि दिगंबर शांतिसागर जी ने समवसरण में कहा था। देखो, १३ फरवरी, सन १९३७ ई० के 'जैन-मित्र,' में, 'समवसरण' का वर्णन करते हुए कहा है, कि 'नाग तथा सिंह आदि पशु भी संज्ञी' पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। इसलिए वहां आ सकते हैं।' पाठको! इन सम्पूर्ण बातों से आप को यह भली भाँति विदित हो गया होगा, कि स्थानकवासी साधु तो अभक्ष्य भोजन को कदापि ग्रहण नहीं करते। क्योंकि, भ्रमचारी जी ने जितने भी अकाट्य (उनकी निगाहों में) प्रमाण पेश किये थे, वे सब-के-सब निरे निर्मूल, असत्य और कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा वाले ठहर चुके हैं।

पाठको! इन दिगवर नगों के सम्बन्ध का वर्णन अब कहाँ तक करूँ। कहना तो बहुत अधिक है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक का कलेवर, इतना बढ चुका है, कि दिल के अरमान दिल ही के कोने मे मसोस कर रखने पड़ रहे हैं। अस्तु! इस विषय की एक बिलकुल स्वतन्त्र पुस्तक, जिसका नाम 'दिगंवर नगों की पोप लीलाएँ' है, लिखी गई हैं। और जो लिखी-लिखाई बिलकुल तैयार पड़ी है। बहुत सम्भव है, इसके बाद, उनके मन-रंजन-मसाले के रूप में, वही पुस्तक, उनके हाथों हमारी ओर से भेंट-स्वरूप, उनके पास पहुँचे।

भ्रमचारी जी! दिगवर नंगों की उत्पत्ति भद्रबाहु के बाद हुई है। इस बात को भी, अब, आप, थोडे मे, हम से सुन लीजिये। वीर संवत ६०६ के लगभग, श्रीकृष्णाचार्य ने शिवभूति को दीक्षित किया। वही दीक्षित शिवभूति एक बार, भिक्षार्थ गया। वहाँ से

उसे एक रत्न-कम्बल की प्राप्ति हुई। गुरु ने उसे देख कर कहा। 'शिष्य! ऐसे मूल्यवान् कम्बल की साधुओं को आवश्यकता ही क्या, जब कि एक साधारण वस्त्र से भी हमारा काम भली प्रकार चल सकता है? अब तुम इसे जब कि ले ही आये हो, तो वापर लो।' परन्तु शिवभूति ने वैसा न करके उसे बाँध रक्खा। गुरु को यह बात अखरी। उन्होंने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, और उन्हें अन्य साधुओं को बाँट दिया। इस कार्य से शिवभूति बड़ा ही बिगड उठा। और उसी समय से वह अपना दिगंबर-स्वरूप बना कर, अपने सद्गुरु से पृथक हो गया।

(१) भ्रमचारीजी! तुम, केवली के कैवल्य ज्ञान होने पर, मन का नाश हो जाना मानते हो। तो क्या केवल-दर्शन हो जाने पर, उनकी चक्षुओं का नाश हो जावेगा? नहीं, कदापि नहीं। यूँ न तो कभी शब्देन्द्रिय ही का नाश होता है, और न कभी मन ही का। भ्रमचारी जी! जरा, किसी पाठशाला मे भरती हो कर, आप पहले वहाँ से कुछ सीख तो आइये। अजी जनाब! इन्द्रियों के द्वारा केवली कभी काम नहीं लेते। परन्तु हाँ, अनुत्तर विमाम वासी देवता लोग, मन के द्वारा, जब केवलियों को प्रश्न पूछते हैं, और जो उत्तर, केवली, उन प्रश्नों का देते हैं, वह उत्तर मन के तदाकार रूप मे बदल जाता है। भ्रमचारी जी! यदि भाषा के पुद्गल, मन के भीतर तदाकार रूप में परिणित नहीं होते हों, तो फिर देवता लोग उनके उत्तरों को जान भी कैसे सकते हैं? केवली को भूख का लगना, अशाता-वेदनीय कर्म का

उदय है। और, पेट का भरना, साता वेदनीय कर्म का उदय। इसका विशेष खुलासा, हम ऊपर कर आये हैं।

(२) भ्रमचारी जी! तुम्हारे प्रश्न ही तुम्हारी बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। भगवान् महावीर आहार-निहार करते नहीं दीखते, सो ठीक। अरे! आहार-निहार कर चुकने पर तो, दीख सकते हैं न? निहार के पीछे या पहले, पानी का पात्र, केवली को अन्य साधु दे सकते हैं। बस, उस पानी से अंग धो लेते हैं।

(३) भ्रमचारी जी! आहार-निहार नियत समय पर होता है। और समवसरण भी वैसे ही नियत समय पर। फिर, बाधा किस को किस से हो सकती है? जब अपने-अपने समय पर, सभी काम बारी-बारी से होता रहता है, तब बाधा की बात ही कौनसी? क्या समवसरण आठों पहर थोड़े ही होता रहता है? सो भ्रमचारी जी को भगवान् की ओर से टट्टी-पेशाब फिरने की चिन्ता हो गई है।

(४) भ्रमचारी जी! केवली को जितनी भी बार टट्टी-पेशाब की हाजत होती है, उतनी ही बार, वे हो आते हैं। अब कितनी बार होते हैं, इस प्रश्न का उत्तर तो, टट्टी-खाने के ठेकेदार चूड़े (भंगी) लोग ही भली भाँति दे सकते हैं।

(५) भ्रमचारी जी! आदर्श-जीवन के पृष्ठ २०६ पर लिखा है, कि 'भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में ऐसी प्रतिज्ञा की, कि मुझे गृहस्थों से विनय कभी नहीं करनी चाहिए।' सो, यह तो अक्षरशः ठीक ही लिखा है। पृष्ठ ४७८ की पंक्ति २१ वीं में

सीहा अणगार से औषधि मँगाई थी, ऐसा स्पष्ठ लिखा है। किसी गृहस्थ के हाथ से तो औषधि उन्होंने मँगवाई ही नहीं। क्यों, भ्रमचारी जी! सीहा अणगार, क्या कोई गृहस्थ थे, जो तुम लिखते हो, कि उनकी प्रतिज्ञा टूट गई? अभी तुम्हारी औंधी खोपड़ी मे यह प्रश्न उठा ही कैसे?

(६) अजी! पहले, जरा प्राकृत के व्याकरण का अवलोकन तो कर लो। उस मे क्या आया है? यह तो तभी ज्ञात हो सकेगा? 'लिग व्यत्यः।' इस सूत्र के अनुसार, पुरुष लिंग और स्त्री लिंग शब्दों का कहीं-कहीं व्यत्यय हो जाता है। अर्थात् एक शब्द, जो स्त्री-लिंग मे प्रवृत्त होता है, वही शब्द, इस सूत्र के न्याय से, कभी पुरुष-लिंगी भी बन जाता है। अब रही 'प्रवचन-सारोद्धार और लोकाशाह' की बात। अरे, भ्रमचारी जी! यह लिखने के पहले, तुम ज़रा तो सोच लेते, कि 'प्रवचन-सारोद्धार' यह लिखा किस के द्वारा गया है? और, लोकाशाह कौन है? प्रवचन सारोद्धार और लोकाशाह का परस्पर सम्बन्ध ही कौनसा? फिर भी भ्रमचारी जी अपनी औंधी बुद्धि के कारण लिख ही बैठते हैं, कि 'गुरु सत्य, कि चेला सत्य?' अजी, लिखते समय, ज़रा सोच तो लिया करो। नहीं तो, कुछ भी अंट-सट बक बैठने से, सदा मुँह की ही खाते रहोगे न?

(७) भ्रमचारी जी! भगवान् महावीर के गर्भ-हरण के नियम, और उनका खुलासा तो, आदर्श-जीवन के पृष्ठ २८० पर भली भाँति कर दिया गया है। उसी को, ज़रा आँखें खोल

कर, मनन-पूर्वक पढ़लो। ताकि ऐसे अंट-संट प्रश्न करने का कभी अवसर तुम्हारे हाथ न आवे। तथापि, इनका कुछ विवेचन हम इस पुस्तक मे भी पहले कर चुके है।

(८) भ्रमचारी जी! भगवान महावीर के शीतलेश्या होने की बात, 'आदर्श-जीवन के पृष्ठ २८० तथा 'कल्प-सूत्र' मे लिखी है। वह तो बिलकुल ही ठीक है। इसी शीतलेश्या के प्रभाव से भगवान् को मामूली सा दाह-ज्वर-मात्र हो कर रह गया। यदि इसका प्रभाव उनके पास होता, तो क्या वे विशेष रूप से रोग-ग्रस्त नहीं हो जाते? यह मामूली-सा दाह ज्वर ही तो उनके निकट शीतलेश्या होने का प्रबल और पुष्ट प्रमाण है। और गोशाला की तेजोलेश्या के प्रयोग से, जिन दो मुनियों का प्राणान्त हो गया है, वह तो उनकी आयुष्य-बल की एक-मात्र समाप्ति ही का कारण था। इस मे भगवान महावीर करते ही क्या? आयुष्य-बल के चुकता हो जाने पर, प्राणान्त हो जाने की घटना से, महावीर की शीतलेश्या की सत्ता मे शंका करना बुद्धि की अजीर्णता है। और कुछ नहीं।

(६) भ्रमचारी जी! आदर्श-जीवन के पृष्ठ ५४२ पर ही क्या, वरन् सारे-के-सारे ग्रन्थ हीमे, कहीं भी झूँठा-कूँठा आहार लेने का तो कोई भी उल्लेख नहीं। यह लिखना तुम्हारा नितान्त निराधार है। सड़े-गले अर्थात् खाइयों मे पडे हुए धान्य का आहार और ठडा गर्म जैसा भी समय पर मिल जाय, उसको खाकर, जो साधु अपने संयम का पूरा-पूरा पालन करते हैं, सच-

मुच में वे ही मुनि-रत्न हैं। परन्तु जो जिह्वा लोलुपी व्यक्ति अपने लिए बनवा कर खाते हैं, और इसी अशुद्ध तथा भ्रष्ट आहार के ग्रहण करने मे, अपने मुनित्व की महिमा समझते हैं, यह तो उनकी विपरीत बुद्धि की हिमालय-पर्वत-जैसी भयंकर भूल है।

(१०) अरे, भ्रमचारी जी! तुम्हारी एक आदत-सी हो गई है, कि पीसे हुए को तुम पीसा ही करते हो। किसी बात को बार-बार दुहराना, यह तुम्हारी आदत ही मे शुमार हो गया है। आदर्श जीवन के पृष्ठ ५५० पर जिस परिग्रह का वर्णन किया गया है, उसे स्थानकवासी साधु कभी भूल कर भी ग्रहण नहीं करते। और काष्ठ के पात्र, तथा मर्यादित वस्त्रादि को, जो साधु के उपकरण हैं, उन्हें तुम परिग्रह मान बैठे हो, यह भी तुम्हारी अज्ञान-भरी दशा के सिवाय और हो भी क्या सकता है? इस के विपरीत, तुम अपने दिगंबर नंगे गुरुओं को तो देखो, कि एक ओर, जहाँ उन्होंने कपड़ों को तो उतार कर फैंक दिया है, परन्तु परिग्रह को कितना बढ़ा लिया है! 'सत्य संदेश' १६ फरवरी सन् १६३७ ई० में, दिगंबर····· के सम्बन्ध मे, तुम्हारे भाई लिखते हैं, कि 'आज कल मुनि भी अकेले भ्रमण नहीं कर सकते। क्योंकि यदि वे अकेले यात्रा करें, तो तम्बू, चटाई, घड़ी, हाथ-पैर दबाने वाले और रोटी का प्रबन्ध कौन करे। आप के साथ एक मोटर लारी, और १८ स्त्री-पुरुष, और बहुत-सा खाने-पीने का सामान था। मानो, कोई बरात ही ठहरी हो। ऐसा मालूम

पडता था।' ब्रमचारी जी! ज़रा, हीये की आँखें खोल कर देखो तो सही! परिग्रह तो इसे कहते हैं! स्थानकवासी साधु के उपकरण को तो कदापि नहीं।

फिर देखो। तुम्हारे दिगम्बर नंगे गुरु गणराज मंडी (कोटा-स्टेट) में जब गये, तब उन के साथ दो गाडियाँ भी थीं। जिनमे घी, शक्कर, आटा, मेवा कम्बल, वर्तन, चटाइयाँ, व अन्य सामान लदा था। कहो भ्रमचारी जी! है न यह तो महा परिग्रह कोई भी क्यों न हो वह जैन धर्म की आम्नाय के अनुसार इसे परिग्रह ही क्या, महान् परिग्रह से भी इन्कार नहीं कर सकता।

फिर तारीख १ जनवरी, सन् १६३६ ई० के सत्य सन्देश मे तुम्हारे ही अनुयायी क्या लिखते हैं कि "दिगम्बर···· जी का साज-सामान, वैल गाड़ियों में लद कर देह चालान कर दिया"। कहिये, भ्रमचारी जी। कपड़ों को तो उतार कर फेंका, और दूसरा-दूसरा सामान रखने लगे गाडियों मे लादने इतना? तुम्हारी आँखों मे यह परिग्रह नहीं? होवे भी कैसे? आ-खिरकार, उनकी ठकुर सुहाती करते रहने पर ही तो तुम्हें रोटियाँ आज नसीब हो रही हैं। अरे काठ के कमण्डलु की जगह अब पीतल का कमण्डलु तो रखने लग पड़े हैं! फिर भी अन्धी आँखों से तुम उसे परिग्रह नहीं कहते, और नहीं मानते। कहीं ऐसा न हो कि थोड़े ही दिनों के वाद निष्परिग्रही की आड़ मे चाँदी और सोने के कमण्डलु भी तुम्हारे नंगे गुरु लोग रखने लग जावें।

(११) स्था० साधु 'अहाकम्मं' आदि दोषों को टाल कर ही भोजन को लाते हैं। किन्तु खेद है, कि दिगबर नंगों के लिए तो खास कर भोजन बनता और बनाया जाता है। और वे लोग भी सहर्ष उसे खाते-पीते हैं। जिस के खाने के लिए, उन के शास्त्रों में एकान्त निषेध किया गया है।। भ्रमचारी जी कहो यह बात प्रत्यक्ष सत्य है न ?

(१२) आदर्श-जीवन के पृष्ठ ५५४ पर जो अदंडी चोरी का उल्लेख है, उसका स्पष्टीकरण तो हम पहले इसी पुस्तक मे यथा स्थान कर आये हैं, अदंडी चोरी का अभिप्राय यह है, कि गृहस्थ यदि सर्वथैव भाव से चोरी का त्याग न कर सकें, तो कम-से-कम उन्हें, 'राज दण्डे और लोक भण्डे' ऐसी चोरी को तो कभी भूलकर भी न करना चाहिए जिस के लिए दिगंबर अजित कुमार शास्त्री जी ने 'सत्यार्थ-दर्पण" के पृष्ठ ३१४ पर कहा है, कि—सर्व साधारण के काम मे आती है ऐसी मिट्टी, जल, आदि पदार्थों के सिवाय अन्य कोई दूसरे का पदार्थ विना पूछे नहीं लेना, अथवा राजदंडनीय, पंच दण्डनीय चोरी का छोड़ना सो 'अचौरिया-णुव्रत है।"

भ्रमचारी जी! फिर देखिये, दिगंवर धर्म-रसिक-ग्रन्थ के पृष्ठ २६४ पर लिखा है, कि 'स्थूल चोरी से विरक्त होना' सो क्या तुम्हारे दिगंबराचार्यों के लेखानुसार, केवल स्थूल चोरी ही तुम नहीं करते होगे ? बाकी सूक्ष्म छोटी छोटी चोरियाँ तो तुम करते ह होगे ? क्यों इसकी तो छूट रक्खी ही होगी ? किन्तु नहीं ?

भ्रमचारी जी ! चोरी चाहे फिर छोटी हो या बड़ी । आखिरकार है तो वह चोरी ही न ? और वह है बहुत ही बुरी ।

(१३) इस पुस्तक में बतलाये हुए अठारह दोषों से रहित व्यक्ति हैं, वे देव और मर्यादित वस्त्र, पात्रादि, साधु उपकरण रहित पाँच महाव्रत के धारी जो है, वे गुरु हैं । और विद्यमान् आचारंगादि बत्तीसों आगमों में बताई गई आज्ञा का पूरा-पूरा पालन करना, यही सच्चा धर्म है ।

(१४) अहिंसा महाव्रत के पालने में भ्रमचारी की दकियानूसी बुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(१५) पाँच महाव्रत धारण करके मर्यादित वस्त्र पात्र जो रखते हों वही उत्तम पात्र है ।

(१६) विशेष करके जो आहार साधुओं के लिए वहाँ बनाया गया हो, तथा जो सर्वथैव प्रकार से साधुओं के लेने के योग्य हो । वही शुद्ध आहार है । किन्तु जो आहार ४२ दोषों से संयुक्त हो वही अशुद्ध आहार है ।

(१७) जिन कल्पी के भेद को न समझ कर नंगे रहना, यह कु-क्रिया है देखो तुम्हारे ही अनुयायी तारीख १६ फरवरी सन् १९३७ ई० के 'सत्य-सन्देश' में लिखते हैं, कि 'नग्न होकर रहना, अनुचित है ।' किन्तु स्थविर कल्पी के भेद को समझ कर जो पंच महाव्रतों को धारण करके मर्यादित; वस्त्र पात्र रखते हैं वही सु-क्रिया है ।

(१८) दो सम्प्रदायों के प्रश्नों को केवल एक ही सम्प्रदाय

वाले से पूछना यही तो भ्रमचारी जी की मायावी बुद्धि का जीता-जागताप्रमाण है।

(१६) स्थानकवासी साधुओं के माननीय शास्त्रों में तो कमीनी तथा कलंकित कथाएँ कहीं नाम को भी नहीं। किन्तु हाँ कोक शास्त्र तक को मात कर देने वाले, तथा निर्लज्जता एवं अश्लीलता की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करने वाले, हरिवंश पुराण, धर्म-रसिक-ग्रन्थ त्रैवर्णिकाचार आदि-आदि दिगंबरीय धर्म-ग्रन्थों में तो कलंकित एवं कुत्सित कथाओं का कसरत के साथ उल्लेख किया हुआ है। भ्रमचारी जी! जरा यह तो बताओ कि इस का सामधान, तुम कैसे करोगे? समाधान? अजी, समाधान करना तो कोसों दूर रहा, अभी तो इस बात को सुनते ही तुम इधर उधर अपना मुँह छिपाते फिरोगे।

(२०) केवली के यथाख्यात संयम होता है।

(२१) भ्रमचारी जी! यदि तुम; आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल, इन चारों ध्यानों का स्वरूप जानना चाहते हो, तो तुम्हें चाहिए कि तुम, पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा लिखित "ध्यान-कल्प-तरु" नामक ग्रन्थ का मनन-पूर्वक पाठ करते रहो। और "केवली में शुक्ल ध्यान है," इस बात को, भली भांति हृदयंगम करके रखलो।

(२२) भ्रमचारी जी! ऐसा कौन मूर्ख है, जो यह कहने का साहस करेगा, कि "बाल्यावस्था मे भिक्षा-शुद्धि नहीं पाली जासकती।" अजी वह तो एक ऐसी भली अवस्था है, जिसमे निर्दोष

साधु-वृत्ति एवं भिक्षा-शुद्धि दोनो यथार्थ रूप से पाली जा सकती हैं। यदि ऐसा होना असम्भव होता, तो अतिमुक्त एवन्ता कुमार को जिसकी उम्र केवल आठही वर्ष के लगभग थी, स्वय भगवान् महावीर के द्वारा, दीक्षा, कभी न दीगई होती।

(२३) केवली जब शरीर छोड़ेंगे, उससमय, अर्थात् अघातिया कर्मों के नाश होने पर, अनन्त सुखप्रकट होगा। अघातिया कर्मों की मौजूदगी ही मे अनन्त सुख मान बैठना, यह तो महान् मिथ्यात्त्व है। और जबतक वेदनीय कर्म है, तबतक क्षुधा, तृषा, और रोग का होना, उसी कर्म का फल है। केवली में शोक का होना, तो कोई भो जैन-सम्प्रदाय वाला, भूल कर भी नहीं मान सकता। फिर भ्रमचारी जी की जिह्वा पर, न मालूम क्यों यह 'शोक' शब्द अपना नग्न नृत्य कररहा है।

(२४) जो साधु होंगे वे तो कभी भूलकर भी मद्य माँस आदि का सेवन न करेंगे। और, ऐसे ही सच्चे साधु, जैन-जगत के लिए, पूजनीय भी है। अब प्रसंगवश, हम, भ्रमचारी जी से पूछते हैं, कि जो लोग वीस तोले के भीतर मद्य, माँस, तथा मधुका, खुले आम सेवन कर सकते हैं और अपनी विषय-वासनाओं को पूर्ति भी, आर्यिकाओं के सा,थ कर लेते हैं, क्या, ऐसे बगुला-भक्तों को 'साधु' के परमपावन नाम से पुकारते हुए, उन्हें अपना पूजनीय गुरु मानते रहना। अपमान की बातें नहीं हैं ?

(२५) अजी भ्रमचारी जी ! भगवान् की बराबरी करने के लिए, गृहस्थी के घर पर ही आहार कर लेना, यह तो बड़ी

भूल है। अरे कहाँ तो कल्पातीत भगवान। और कहां तुम्हारे दिगंबरी नंगे साधु। अत जैसा भगवान् ने किया वह तोसाधुओं को करना भी क्यों और कैसे चाहिए? अरे मसल भी मशहूर है, कि Never do as your teacher does, but ever do as your teacher says you' अर्थात् जैसा गुरु लोग करें वैसा तो कभी न करो। किन्तु जैसा वे कहें वैसा तो सदैव ही करते रहो।' हॉ इसी न्याय से साधुओं को तो केवल उन्हीं २ आज्ञाओं का यथा सम्भव पालन करना चाहिए, जिन आज्ञाओं को वीर भगवान् फर्मा गये हैं। गृहस्थी के घर पर आहार कर लेना, यह तो सरासरी गुरु की चोरी करना है। क्योंकि गृहस्थियों के घर पर आहार कर लेने में गुरु को बताये बिना ही खा-लेना होता है। तब तो शास्त्रोक्त वचनों से, बिना गुरु को भोजन दिखाये और बिना उनकी आज्ञा प्राप्त किये ही, आहार कर लेने मे गुरु अस्तेय, अर्थात् गुरु की चोरी जैसा महान् पातक लगता है।

(२६) पाठको! भ्रमचारी जी ने, अपने २६ वें प्रश्न में; आचारँग सूत्र के पृष्ठ २४७-२४८ के उद्धरण का, जो उल्लेख किया है, उसका कुछ अंश, उन्होंने बिलकुल ही गायब करके, लोगों को भ्रम में डालने का, भर-सक प्रयत्न किया है। परन्तु भ्रमचारी जी! अब लोग, तुम्हारे-जैसे भ्रमित बुद्धि वाले नहीं। वे अब चलते हुए सचाई को परखते हैं। पाठको! आचारँग के इसी पृष्ठ मे, साथ-ही-साथ, यह भी कहा है, कि 'अण्णयरेसु

था तहप्पगारेवेसु कु लेसु', अर्थात कुछ जातियाँ पहले बता कर, फिर कहा, कि—'अण्णयरेसु=और भी। तहप्पगारेसु=तथा प्रकार के शुद्ध। कुले=कुल मे. जहाँ कि जाने से निन्दा न हो, ऐसे कुलों मे से भिना लाने का विधान किया गया है। मगर, भ्रमचारी जी ही तो ठहरे। फिसल पडे सत्य को असत्य का जामा पहनाने के लिए।

भ्रमचारी जी! आप को 'जुलाहा' शब्द बहुत ही जल्दी २ याद आ जाता है। सो, यह बात क्या है? कहीं इसका कारण यह तो न हो, किसी जुलाहे ने, आह पर, किसी वशीकरण मन्त्र का प्रयोग कर दिया हो। अथवा अपने किसी पूर्व भव मे आप 'जुलाहा' ही रहे हों। अथवा अपने आने वाले भव मे, आप किसी जुलाहे ही के घर तो जन्म धारण करने वाले नहीं हो? कहिए तो। आखिर कार यह बात क्या है? भाई! आप चाहे एक बार छोड़ कर सौ और लाख बार पूछो। मगर हमारा तो यही अटल उत्तर उसके लिए है, कि स्थानकवासी साधु, जुलाहे के यहाँ से आहार-पानी कभी नही लाते।

(२७) आगे भ्रमचारी जी आचरंगसूत्र के पृष्ठ ६० पर के लोक-विजय द्वितीय अध्यन के चौथे उद्‌देश की २२ वीं गाथा का हवाला देकर लिखा है, कि 'जो साधु को न पडगा है (?) साधु उसी वक्त फिर आवे।' अरे। जिस वाक्य का गीत यहाँ तुम अलाप रहे हो अरे उस की तो गन्ध तक उस पृष्ठ पर कहीं नहीं! फिर न मालूम यह वाक्य तुमने ला कहाँ से धरा है?

और पड़गा है' यह शब्द-जाल भी न जाने क्या वला है ? पाठको ! भ्रमचारी जी ! के भ्रम पूर्ण कोष के इस विचित्र शब्द-जाल (पड़गा है) का अर्थ तो कदाचित् आप भी न समझे होंगे ! इसका अर्थ तो भ्रमचारी जी ही जाने। मगर इस से क्या ? 'क्या यूँ, 'कुलहड़ी में गुड़ फोड़कर' मन-ही-मन राजी हो जाना कोई मनुष्य का काम थोड़े है ?

(२८) भ्रमचारी जी ! आचारॅग जी सूत्र के पृष्ठ ६८ की दूसरी गाथा के कथनानुसार ही स्था० साधु, सदोष आहार को ग्रहण करना तो अभी वहुत परे रहा, वरन् उस की इच्छा तक वे कभी नहीं करते। यहाँ तक कि जहाँ मद्य मांस का भोजन वनाया हुआ होगा, वहाँ स्था० साधु कभी जावेंगे तक नहीं। तव ऐसे निर्दोषियों के ऊपर मद्य-मासादि के सेवन का दोरोपण मढ़ना, क्या कोई कम नीचता की वात है ? फिर भ्रमचारी जी ! ने इसी परिलेख मे जुलाहा शब्द को वापरा है। इस से प्रत्यक्ष ज्ञान पड़ता है, कि इन को जरा भी किसी कही हुई वात की कोई भी सुधि नहीं रह पाती।

(२६) स्थानकवासी समाज के माननीय देव और गुरु लोग माँस मधु, और मद्य न तो पहले ही कभी खाते थे, न आज ही खाते है, और न कभी आगे ही खावेंगे। चमड़े और चर्वी के संवन्ध के उत्तर हम पहले ही विशदता पूर्वक इसी पुस्तक मे लिख आये है। स्त्री सेवन की आज्ञा साधुओं के लिए शास्त्रों में कहीं भी नहीं। वस इसी से स्था० जैन-धर्म सभी के

लिए सुलभ और प्राप्त है। अर्थात धर्म तो वही है, जिस में बीस तोले के भीतर मांस, मधु, और मदिरा सेवन की आज्ञाएँ हों, और जिसमें मारण, मोहन, वशीकरण यानि पूजन, होम, हवन, बलि-चढ़ावा आदि-आदि अनेकों प्रकार के धर्म के प्रतिकूल विधानों की भारी भरकम हो। जिस में मुनियों और आर्यिकाओं के संगम, और रात्री भोजन, आदि-आदि घृणित और कुत्सिक तथा हिंसात्मक कार्यों के कर गुजरने की खुल्लम-खुल्ला आज्ञा दी गई हो। फिर जिस में इन घृणित, कुत्सित, और हिंसात्मक कार्यों का भण्डा-फूट हो जाने पर उन के लिए न कुछ से दण्ड-विधान का आयोजन हो। ऐसा धर्म (?) ग्रहण करने के लायक है या नहीं? इस के लिए पाठक स्वयं ही सोच-विचार कर लेंगे।

(३०) स्थानकवासियों के माननीय शास्त्रों में तो अभक्ष्य के भक्षण करने, तथा अपेय पदार्थों के पान करने का कहीं भी कोई विधान नहीं परन्तु जिन में अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान के विधान हों वे शास्त्र, शास्त्र ही नहीं। और न वह माने जाने के योग्य हैं। ब्रमचारी जी! ज़रा एकान्त में बैठ कर सोचिये, कि किन के शास्त्रों में, अभक्ष्य-भक्षण और अपेय-पान का जिक्र भरा पड़ा है।

(३१) महावीर स्वामी ने अपने माता-पिता के स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् ही दीक्षा-ग्रहण की थी।

(३२) भगवान् महावीर मात-पिता के स्वर्गारोहण

समय यदि भ्रमचारी जी ! अपनी झोली को टटोलते हुए वहाँ पहुँच गये होते, और उन के स्वर्गारोहण का ठीक-ठीक समय नोट उन्होने उस समय कर लिया होता, वो आज उन को यूँ पूछते फिरने का कोई मौक़ा ही न मिलता। पाठको ! इन वाल प्रश्नों पर से दिग्गज विद्वान (?) भ्रमचारी जी के बुद्धि के पैमाने को आप भली भाँति आँक पाये होंगे !

(३३) चौबीस तीर्थंकरों के 'पंच कल्याणक' एक से भी हैं, और भिन्न-भिन्न प्रकार से भी।

(३४) उदीरणा पहले गुणस्थान से तेहरवें गुणस्थान तक होती है।

(३५) संयम को निभाने के लिये मर्यादित वस्त्रादि उपकरण रखने वाले साधु स्थविर कल्पी या जिन कल्पी चाहे सो हों। उन छटे गुणस्थान वर्ती से दशवें गुणस्थान वर्ती की साम्प्रदायिक आश्रव और ग्यारहवें गुणस्थान वर्ती से लेकर तेहरवें गुणस्थान वर्ती के इर्यापथिक आश्रव होता है।

(३६) श्री हेमचन्द्राचार्य ने शास्त्रों के जो-जो लक्षण बताये हैं, उन्हीं समस्त लक्षणों से संयुक्त भगवती जी आदि सूत्र भी सागोपाग रूप से सुसज्जित हैं।

पाठको ! इस पुस्तक मे भ्रमचारी सुन्दरलाल जी की शंकाओं का समुचित समाधान करने के लिए कोई कसर नहीं रक्खी है। किन्तु वे अपने दुराग्रह को क्यों और कब छोड़ने लगे क्योंकि—

समय यदि भ्रमचारी जी ! अपनी झोली को टटोलते हुए वहाँ पहुँच गये होते, और उन के स्वर्गारोहण का ठीक-ठीक समय नोट उन्होंने उस समय कर लिया होता, तो आज उन को यूँ पूछते फिरने का कोई मौका ही न मिलता। पाठको ! इन बाल प्रश्नों पर से दिग्गज विद्वान (?) भ्रमचारी जी के बुद्धि के पैमाने को आप भली भाँति आँक पाये होंगे।

(३३) चौबीस तीर्थंकरों के 'पच कल्याणक' एक से भी हैं, और भिन्न-भिन्न प्रकार से भी।

(३४) उदीरणा पहले गुणस्थान से तेहरवें गुणस्थान तक होती है।

(३५) सयम को निभाने के लिये मर्यादित वस्त्रादि उपकरण रखने वाले साधु स्थविर कल्पी या जिन कल्पी चाहे सो हों। उन छटे गुणस्थान वर्ती से दशवें गुणस्थान वर्ती की साम्प्रदायिक आश्रव और ग्यारहवें गुणस्थान वर्ती से लेकर तेहरवें गुणस्थान वर्ती के इर्यापथिक आश्रव होता है।

(३६) श्री हेमचन्द्राचार्य ने शास्त्रों के जो-जो लक्षण बताये हैं, उन्हीं समस्त लक्षणों से सयुक्त भगवती जी आदि सूत्र भी सागोपांग रूप से सुसज्जित हैं।

पाठको ! इस पुस्तक में भ्रमचारी सुन्दरलाल जी की शंकाओं का समुचित समाधान करने के लिए कोई नहीं रक्खी है। किन्तु वे अपने दुराग्रह को क्यों और लगे क्योंकि—

लिए सुलभ और ग्राह्य है। अग्राह्य धर्म तो वही है, जिस में वीस तोले के भीतर मॉस, मधु, और मदिरा सेवन की आज्ञाएँ हों, और जिसमे मारण, मोहन, वशीकरण योनि पूजन, होम, हवन, वलि-चढ़ावा आदि-आदि अनेकों प्रकार के धर्म के प्रतिकूल विधानों की भारी भरकम हो। जिस मे मुनियों और आर्यिकाओं के संगम, और रात्री भोजन, आदि-आदि घृणित और कुत्सिक तथा हिंसात्मक कार्यों के कर गुजरने की खुल्लम-खुल्ला आज्ञा दी गई हो। फिर जिस मे इन घृणित, कुत्सित, और हिंसात्मक कार्यों का भण्डा-फूट हो जाने पर उन के लिए न कुछ से दंड-विधान का आयाजन हो। ऐसा धर्म (?) ग्रहण करने के लायक है या नहीं ? इस के लिए पाठक स्वयं ही सोच-विचार कर लेंगे।

(३०) स्थानकवासियों के माननीय शास्त्रों मे तो अभक्ष्य के भक्षण करने. तथा अपेय पदार्थों के पान करने का कहीं भी कोई विधान नही परन्तु जिन मे अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान के विधान हों वे शास्त्र, शास्त्र ही नहीं। और न वह माने जाने के योग्य है। ब्रमचारी जी ! जरा एकान्त मे बैठ कर सोचिये, कि जिन के शास्त्रों मे, अभक्ष्य-भक्षण और अपेय-पान का जिक्र भरा पड़ा है।

मुँह भरा हुआ घड़ा, ना गुरमरी से साफ हो ।
कपूर पद्म से धोऊ, ना कोयला महताप हो ॥
केशर कपूर लगाय करके, धोऊँ वार अनेक है ।
न प्याज बदबू छोड़ती, यह खास उसकी टेक है ॥

मुझे निस्सदेह पक्का विश्वास है, कि ब्रमचारी सुन्दरलाल जी और उनके दिगंबर नंगे गुरु बडे ही हठाग्रही है। वे अपनी आँखों पर लगे हुए पक्षपात के चश्मे को उतारने के लिए कभी तैयार नही होते है । इसलिए मै अपने समस्त श्वेताम्बर बन्धुओं से अनुरोध पूर्वक निवेदन करता हूँ कि वे इस पुस्तक को आद्योपान्त वारम्बार पढ़ें । यथार्थ स्वरूप को समझ कर शुद्ध श्वेताम्बर धर्म की रक्षा के लिए तन-मन और धन से कटिबद्ध हो जायें ।

परस्पर विरोधात्मक वचनों की सत्ता के कारण दिगंबर ग्रन्थ स्वयं अप्रमाणित ठहर जाते हैं। ऐसे अप्रमाणिक ग्रन्थों की वास्तविक समालोचना अवश्य ही होनी चाहिए। दिगम्बर बन्धुओं को भी अपनी इस त्रुटि के निवारणार्थ तन-तोड़ परिश्रम करने के लिए तैयार होजाना चाहिए। और उन्हें अपने दिगम्बर शास्त्रों के अश्लील, असंगत, अघटित और परस्पर विरोधी विषयों को झाड़ बुहार कर परे फेंक देना चाहिए। ताकि भविष्य मे फिर आज कल की भांन्ति अन्य लोगों को उनके शास्त्रों पर अँगुली उठाने का मौका ही न मिलने पावे।

अन्त मे हमारी यह परमोज्वल भावना है, कि

की व उनके पिट्ठुओं की बुद्धि बिल्कुल निर्मल हो जाय। और प्रशस्त मार्ग को ग्रहण करें। इसी पवित्र उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है। अतएव हमें आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वाश है, कि दिगंबर बन्धुओ तथा पाठकगण इस पुस्तक का प्रेम पूर्वक पढ़ कर लाभ उठावेंगे।

सेवा कर सतगुरुन की, सुना शास्त्र का ज्ञान।
समझा सच्चे मार्ग को, बहु विध कर पहिचान॥
शुद्ध अहिंसा धर्म से, नाशे तम अज्ञान।
सदा विजय करते रहें, महावीर भगवान्॥

ओ३म् शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

[समाप्त]

पुस्तक मिलने के पते

(१) श्री श्वेताम्बर जैन स्थानक, मुल्तान गंज, मण्डी

मु० बड़ौत (मेरठ)

(२) जैन लायब्रेरी मंत्री सन्तोष चन्द्र जी जैन

मु० बामनौली (मेरठ)

:- जो सज्जन पुस्तक मंगवाना चाहें वे डाक व्यय सहित

-) के टिकट भेजकर मंगवालें।